

विद्या विकास फंड, ग्रन्थांक-८ श्रेष्ठी क.ला. स्मारक. निधि, ग्रन्थांक-६

# प्राचीन अर्धमागधी की खोज में

के. आर. चन्द्र

भूतपूर्व अध्यक्ष

प्राकृत-पालि विभाग

भाषा साहित्य भवन

गुजरात युनिवर्सिटी, अहमदाबाद-९.

—: प्रकाशक :—

प्राकृत जैन विद्या विकास फंड

अहमदाबाद

बिद्या विकास फंड, ग्रन्थांक-८ श्रेष्ठी क.ला. स्मारक. निधि, ग्रन्थांक-६

# प्राचीन अर्धमागधी की खोज में

के. आर. चन्द्र  
भूतपूर्व अध्यक्ष  
प्राकृत-पालि विभाग  
भाषा साहित्य भवन  
गुजरात युनिवर्सिटी, अहमदाबाद-९.

—: प्रकाशक :—

प्राकृत जैन बिद्या विकास फंड  
अहमदाबाद

प्रकाशक :

डॉ. के. आर. चन्द्र,

मानद मंत्री

प्राकृत जैन विद्या विकास फंड

अहमदाबाद-३८००१५.

प्रत ५००

ई. स. १९९१

मूल्य : ३२-००

मुख्य वितरक :

पार्श्व प्रकाशन

निशागोल नाका, झवेरी वाड

रीलीफ रोड, अहमदाबाद १

मुद्रक :

गायत्री लेजर प्रिन्टर्स

४३/A शंकरनगर, नवावाड

अहमदाबाद-१३

# आभार

इस ग्रंथके प्रकाशन—व्यय का वहन  
श्रेष्ठी श्री कस्तूरभाई लालभाई स्मारक निधि  
बी. ११, न्यू क्लोथ मार्केट, अहमदाबाद—१  
ने  
किया है  
एतदर्थ

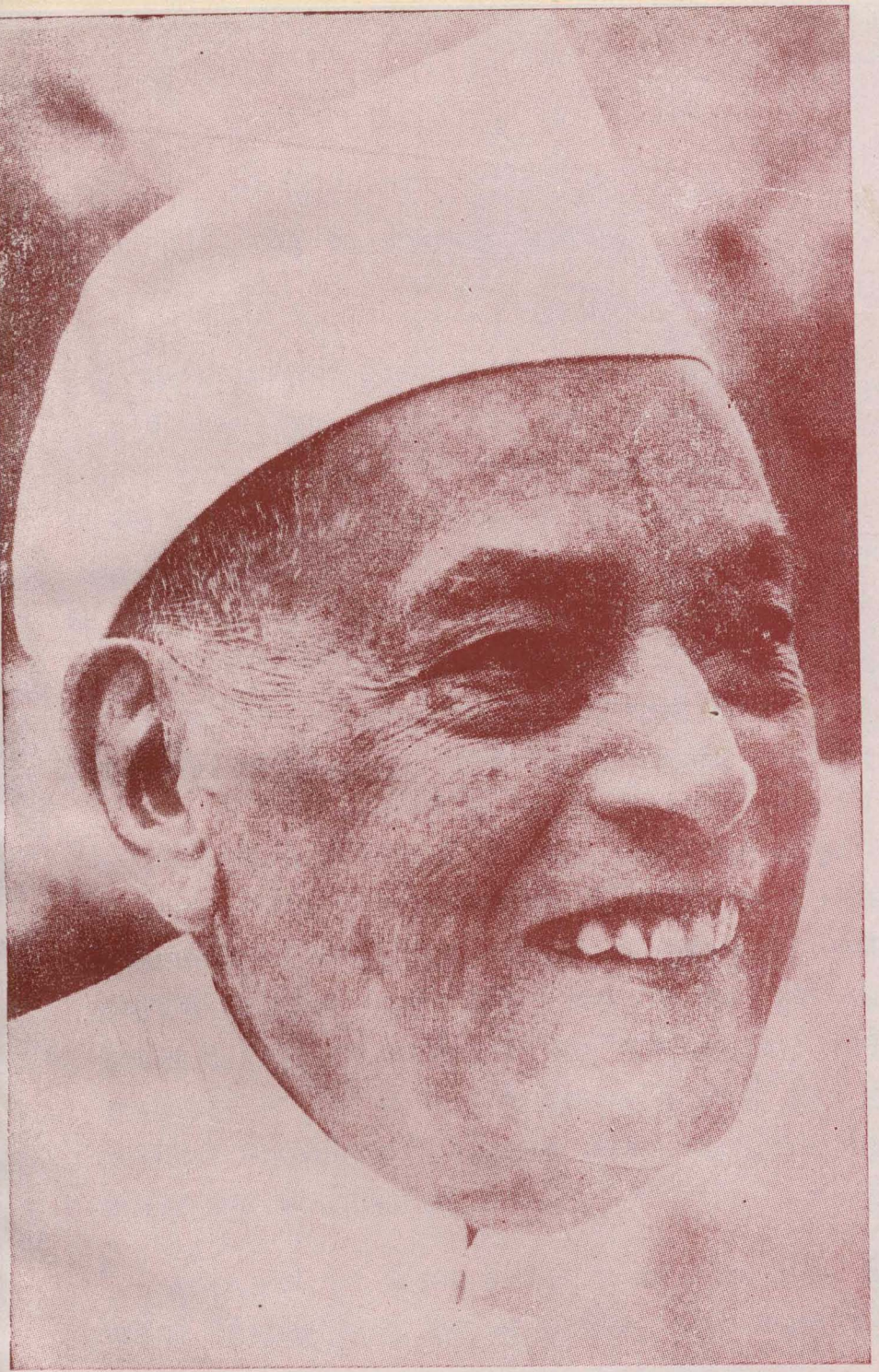
हम उक्त ट्रस्ट एवं उसके उदारमना ट्रस्टियों—

श्री अरविन्दभाई नरोत्तमभाई  
श्री आत्मारामभाई भोगीलाल सुतरिया  
श्री संवेगभाई अरविन्दभाई  
श्री कल्याणभाई पुरुषोत्तमदास फडिया  
श्री रमेशभाई पुरुषोत्तमभाई शाह  
के प्रति  
हादिक आभार प्रकट करते हैं ।

— प्रकाशक







श्रेष्ठीवर्य श्री कस्तूरभाई लालभाई

जन्म [ ई. सन् १८९४ ] अहमदाबाद [ स्वर्गवास ई. सन् १९८० ]



## सेठ श्री कस्तूरभाई लालभाई

(१८९४—१९८०)

सेठ श्री कस्तूरभाई लालभाई के जीवन काल का विस्तार उन्नीसवीं शती के अंतिम दशक से लेकर बीसवीं शती के आठ दशकों तक रहा । गुजरात के श्रेष्ठी-वर्ग की परम्परा के अंतिम स्तम्भ के रूप में उन्होंने न्याय-नीति एवं प्रामाणिकता के साथ अपने व्यावसायिक आदर्शों का निर्वाह किया था । औद्योगिक क्षेत्र में वे आधुनीकरण की प्राण-प्रतिष्ठा करने वाले एवं युगप्रवर्तक माने जाते हैं । कला एवं शिक्षा के क्षेत्र में भी उनकी दृष्टि प्रगतिशील रही । व्यवसाय के क्षेत्र में भी निजी लाभ की अपेक्षा राष्ट्र-हित की भावना ही उनमें प्रमुख रही । भारत के गिने-चुने उद्योगपतियों में उन्होंने प्रशंसनीय स्थान प्राप्त किया था । विदेशी कम्पनियों के सहयोग से उन्होंने भारत में रासायनिक रंगों का उत्पादन प्रारम्भ किया और अपनी अनोखी सूझ-बूझ से वे भारतीय अर्थनीति के आधार-स्तंभ बने । अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अनेक विकट आर्थिक और व्यावसायिक समस्याओं को सुलझाने में उनकी विवेकबुद्धि को अद्भुत सफलता मिली । विश्व के वल्ल उद्योग के इतिहास में उनका नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जाने योग्य है । अपने उद्योग-संकुल के किसी भी व्यक्ति के सुख-दुख के प्रत्येक प्रसंग में उसकी पूरी मदद करते थे । यह उनके व्यक्तित्व की उदारता और मानवीय गुणों की विशेषता थी ।

उनका जन्म १९ दिसम्बर १८९४ को अहमदाबाद में सेठ श्री लालभाई दलपतभाई के घर हुआ जो सुशिक्षित, संस्कार-सम्पन्न और



समाज सेवा की भावना से ओतप्रोत थे । एक बार लार्ड कर्जन ने माउंट आबू के देलवाडा के मन्दिरों के शिल्प स्थापत्य से प्रभावित होकर उन्हें शासकीय पुरातत्त्व विभाग के द्वारा अधिगृहीत करने का प्रस्ताव रखा तब सेठ लालभाई ने सेठ आनंदजी कल्याणजी की पेढी के अध्यक्ष की हैसियत से उसका विरोध किया और आठ-दस वर्षों तक अनेक कारीगरों को काम में लगाकर यह सिद्ध कर दिया कि पेढी की तरफ से मन्दिरों के संरक्षण में कितनी सुव्यवस्था है । अनेक विद्यालयों, पुस्तकालयों एवं संस्थाओं के निर्माता के रूप में उनकी उदारता की सुवास सम्पूर्ण गुजरात में फैली हुई है । उन्होंने १९०८ में सम्मैतशिखर पर व्यक्तिगत बंगला बनाने के शासकीय आदेश को निरस्त करवाया था । वे जैन श्वेताम्बर कॉन्फरेन्सके महामन्त्री भी थे । ब्रिटिश शासन ने उनकी सेवाओं की सराहना की थी और उन्हें सरदार का खिताब प्रदान किया था ।

सेठ लालभाई के सात संतान थीं । तीन पुत्र और चार पुत्रियाँ । श्री करस्तूरभाई उनकी चौथी संतान थी । पिता के अनुशासन और माता के वात्सल्य के बीच इन सातों संतानों का लालन-पालन हुआ ।

श्री करस्तूरभाई ने प्राथमिक शिक्षा नगरपालिका द्वारा संचालित एक शाला में प्राप्त की और वे १९११ में आर० सी० हाईस्कूल से मेट्रिक्युलेशन की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए । जिस समय वे चौथी कक्षा में थे उस समय चल रहे स्वदेशी आन्दोलन का उनके चित्त पर गहरा प्रभाव पड़ा । मेट्रिक के पश्चात् उन्होंने गुजरात कालेज में प्रवेश प्राप्त किया किन्तु कालेज जीवन के प्रथम छः महीने में ही सन् १९१२ में पिताजी का देहान्त हो जाने से मिल की व्यवस्था

में अपने भाई की सहायता करने के लिए उन्हें अपना अध्ययन छोड़ देना पड़ा। उन्होंने अपने चाचा के मार्गदर्शन में अपने हिस्से में आयी रायपुर मिल में टाइमकीपर, स्टोरकीपर आदि से कार्य प्रारम्भ किया और बाद में मिल के संचालन विषयक सभी कार्यों में योग्यता अर्जित करके अपनी तेजस्वी बुद्धि एवं कार्य-कुशलता से उसे भारत की प्रसिद्ध एवं अग्रगण्य कपड़ा मिलों की श्रेणी में लाकर रख दिया। उसके बाद अशोक-मिल, अरुण-मिल, अरविन्द-मिल, नूतन-मिल, अनिल-स्टार्च और अतुल संकुल आदि अनेक उद्योग-गृहों की सन् १९२१ से १९५० के बीच स्थापना करके लालभाई-ग्रुप को देश के अग्रगण्य उद्योगगृहों में प्रतिष्ठित कर दिया।

व्यावसायिक कार्यों के साथ-साथ कस्तूरभाई ने अपने पूज्य पिताजी की तरह लोक कल्याण के कार्यों में भी बड़े उत्साह से भाग लिया। सन् १९२१ में अहमदाबाद नगरपालिका के अध्यक्ष के निर्देश से उन्होंने और उनके अन्य भाइयों ने नगरपालिका की प्राथमिक शाला को ५० हजार का दान दिया था। सन् १९२१ के दिसम्बर माह में जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन अहमदाबाद में हुआ तब पंडित मोतीलाल नेहरू के साथ उनका मैत्री-सम्बन्ध हुआ। १९२२ में सरदार वल्लभभाई पटेल की सलाह से वे भारतीय संसद में मिल मालिकों के प्रतिनिधि के रूप में चुने गये। १९२३ में जब स्वराज पक्ष की स्थापना हुई तब अहमदाबाद तथा बम्बई के मिल-मालिकों की ओर से उसे पाँच लाख का दान दिलवाया था। संसद में बस्त्र पर चुंगी समाप्त करने का प्रस्ताव कस्तूरभाई ने रखा था और शासन की अनेक विघ्न-बाधाओं के बावजूद भी उसे स्वीकार करवा लिया। स्वराज पक्ष के सदस्य नहीं होने पर भी कस्तूरभाई को पं० मोतीलालजी ने स्वराज-श्रेष्ठ की उपाधि प्रदान की थी।

लम्बे समय से चल रहे मिल-मजदूरों के बोनस एवं वेतन सम्बन्धी वाद-विवाद को निपटाने के लिए सन् १९३६ में गाँधीजी और कस्तूरभाई का एक आयोग बनाया गया। प्रारम्भ में दोनों के बीच मतभेद उत्पन्न हो गया परन्तु अन्त में दोनों किसी एक विकल्प पर सहमत हो गये। इन सब कार्यों में कस्तूरभाई की निर्भीकता, साहस और योग्यता के दर्शन होते हैं।

सन् १९२९ में उन्होंने जिनेवा की मजदूर परिषद में मजदूरों के प्रतिनिधि के रूप में और सन् १९३४ में उद्योगपतियों के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया था। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद भी इसी प्रकार के अनेक प्रतिनिधि मण्डलों में उन्होंने भाग लिया था। इन सब प्रसंगों पर देश के हित को ही सर्वोपरि मानकर वे विदेशियों के साथ की चर्चाओं में विलक्षण बुद्धि और कुशलता का परिचय देते थे।

शिक्षा एवं संस्कृति के क्षेत्र में उनका योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। अहमदाबाद की एजुकेशन सोसायटी के आयोजक वे ही थे जिसकी स्थापना सन् १९३४ में हुई थी। नगर के भावी शैक्षणिक विकास को लक्ष्य में रखकर उन्होंने ७० लाख रुपये व्यय करके छ सौ एकड़ जमीन संपादित करवाई थी जिसके परिणामस्वरूप गुजरात विश्वविद्यालय का भव्य और विशाल संकुल अस्तित्व में आया। उनके परिवार की ओर से एल० डी० आर्ट्स कॉलेज, एल० डी० इन्जिनियरिंग कॉलेज तथा एल० डी० प्राच्य विद्या मन्दिर को लाखों रुपये दान में दिये गये। विगत तीस-पैंतीस वर्षों में लालभाई दलपतभाई परिवार ट्रस्ट की ओर से दो करोड़ पचहत्तर लाख का और अपने ही उद्योग गृहों की ओर से चार करोड़ का दान दिया गया। कस्तूरभाई को शिक्षा के प्रति कितनी रुचि थी इसका अनुमान उनके इन सब कार्यों

से लगाया जा सकता है। यदि ऐसा न होता तो अटीरा, पी० आर० एल०, ला० द० भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, इन्डियन इन्स्टिट्यूट ऑफ मैनेजमेन्ट, स्कूल ऑफ आर्किटेक्चर, नेशनल इन्स्टिट्यूट ऑफ डिजाइन और विक्रम साराभाई कम्प्युनिटी सेन्टर जैसी ख्यातिप्राप्त अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ अहमदाबाद में कैसे निर्मित हो सकती? यह उद्योगपति कस्तूरभाई और युवा वैज्ञानिक डॉ० विक्रम साराभाई के संयुक्त स्वप्न की ही सिद्धि है।

भारतीय संस्कृति के प्रति उनके प्रेम का परिचायक है विश्व-विद्यालय-संकुल में स्थित जहाज के रमणीय आकार में निर्मित ला० द० भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर जो सन् १९५५ में बनकर तैयार हुआ था और उसका उद्घाटन प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने किया था। मुनि श्री पुण्यविजयजी ने उस संस्था को १०,००० हस्तप्रतों एवं ७००० पुस्तकों की अत्यन्त मूल्यवान भेंट अर्पित की थी। आज इस संस्था के पास ३०,००० के प्रायः प्रकाशित ग्रन्थों का एवं ७०,००० के प्रायः पाण्डुलिपियों का संग्रह है। उसमें से दस हजार पाण्डुलिपियों की सूची केन्द्रीय सरकार की सहायता से एवं ७००० पाण्डुलिपियों की सूची गुजरात सरकार की सहायता से प्रकाशित हो चुकी है। अद्यावधि इस संस्था का ओर से १०० से अधिक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। ४८०० पाण्डुलिपियों की ट्रान्स-पेरेन्सी एवं दो हजार मूल्यवान हस्तप्रतों की माईक्रोफिल्म भी कर ली गयी है साथ ही साथ १००० से अधिक पुराने सामायिकों के अंक भी संग्रहीत हैं। इस संस्था का मुख्य आकर्षण सांस्कृतिक संग्रहालय है। कस्तूरभाई एवं उनके परिवार के लोगों की ओर से भेंट में दी गयी बहुत सी पुरातात्विक वस्तुओं को इस संग्रहालय में संग्रहीत किया गया है। सुन्दर चित्र, कलाकृतियाँ, प्राचीन वस्त्र-आभूषण,

राजावट की वस्तुएँ, हस्तप्रत एवं बारहवीं शती की चित्र युक्त हस्तप्रत आदि प्रायः चार सौ से अधिक वस्तुएँ इस संग्रहालय में प्रदर्शित हैं जो प्राचीन भारतीय जीवन और संस्कृति की मोहक झलक प्रस्तुत करती हैं। पुराने प्रेमाभाई हॉल का स्थापत्य कस्तूरभाई को कला की दृष्टि से खटक रहा था। उन्होंने लगभग छप्पन लाख रुपये खर्च करके उसका नव संस्करण करवाया जिसमें बत्तीस लाख का दान कस्तूरभाई परिवार एवं लालभाई ग्रुप के उद्योग समूह ने दिया।

त्रिख्यात इंजीनियर ढई साहब ने कस्तूरभाई को कुदरती सूझ वाले इंजीनियर कहा था। उन्होंने अपनी स्वयं की निगरानी में राणकपुर, देलवाड़ा, शत्रुंजय और तारंगातीर्थ के मन्दिरों के शिल्प स्थापत्य का जो जीर्णोद्धार करवाया है उसे देखते हुए ढई का कथन सही मालूम पड़ता है। सेठ आनन्दजी कल्याणजी की पेढी के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने अनेक जीर्ण तीर्थस्थलों का कलात्मक दृष्टि से जीर्णोद्धार करवाया। उन्होंने उपेक्षित राणकपुर तीर्थ का पुनरुद्धार करके उसे रमणीय बना दिया। उन्होंने बहुत ही परिश्रम उठाकर पुरानी शिल्प कला को पुनर्जीवित किया। देलवाड़ा के मन्दिर के निर्माण में जिस जाति के संगमरमर का उपयोग हुआ है उसी जाति का संगमरमर दाँता के पर्वत से प्राप्त करने में बहुत ही अवरोध आये थे। कारीगरों ने जीर्णोद्धार का व्यय पचास रुपये घनफुट बताया था, किन्तु उसका खर्च बढ़ते-बढ़ते पचास की जगह दो सौ रुपये प्रतिघनफुट आया फिर भी प्रतिकृति इतनी सुन्दर बनी कि कस्तूरभाई की कलाप्रेमी आत्मा प्रसन्न हो गयी और अधिक व्यय की उन्होंने तनिक भी चिन्ता नहीं की। शत्रुंजयतीर्थ में उन्होंने पुराने प्रवेश द्वार के स्थान पर नया द्वार बनवाया और मुख्य मन्दिर की भव्यता में अवरोध

करने वाले छोटे-छोटे मन्दिर और उनकी मूर्तियों को बीच में से हटवा दिया ।

जिस प्रकार धर्मदृष्टि उद्घाटित होते ही जीवन दर्शन के क्षितिजों का विस्तार होता है उसी प्रकार जीर्णोद्धार के बाद इन धर्मस्थानों के क्षितिज भी विस्तृत हो गए ।

एक अमेरिकन यात्री ने एक बार कस्तूरभाई से पूछा ! यदि कल ही आपकी मृत्यु हो जाय तो.....!

कस्तूरभाई ने सस्मित कहा : मुझे आनन्द होगा ।

किन्तु बाद में क्या ?

बाद में क्या होगा इसकी मुझे चिन्ता नहीं है ।

आपका क्या होगा उसका विचार नहीं आता है क्या !

मैं पुनर्जन्म में आस्था रखता हूँ ।

उसका तात्पर्य ?

जैन तत्त्वज्ञान के अनुसार ईश्वर जैसा कोई व्यक्ति विशेष नहीं है । प्रत्येक प्राणी और मैं स्वयं भी ईश्वर की स्थिति को पहुँच सकता हूँ अर्थात् मुझे मेरे चरित्र को उतना ऊँचा ले जाना चाहिये और यह विश्वास उत्पन्न करना चाहिए कि मैं क्रमशः उस पद के लिए योग्य बन रहा हूँ । इस विचारधारा में मुझे आस्था और गौरव है । उस स्थिति तक कैसे पहुँचा जा सकता है ? उसके उपाय भी हमारे दर्शन में बताये हैं :- सत्य बोलना चाहिए, धन के प्रति ममत्व नहीं रखना चाहिए, हिंसा नहीं करनी चाहिए, आदि । इतने उच्च आदर्श शायद ही दूसरी जगह पर देखने को मिले ।

जैन धर्म क्या है ?

सत्य तो यह है कि जैन धर्म एक धर्म नहीं अपितु जीवन जीने की



कला है जिसका आचरण करने से मानव इसी जन्म में उच्च आध्यात्मिक स्थिति को प्राप्त कर सकता है ।

क्या जैन धर्म में धन संचयन करने को कहा गया है ?

नहीं, उसमें कहा गया है कि निश्चित मर्यादा से अधिक धन—सम्पत्ति नहीं रखनी चाहिए ।

क्या आपने उसका व्रत लिया है ?

नहीं किन्तु स्वयं प्राप्त धन का कुछ हिस्सा सार्वजनिक के लिए खर्च करने का मेरा नियम है ।

दिनांक ८ जनवरी १९८० को कस्तूरभाई बम्बई में बीमार पड़े, डाक्टर ने उनके स्वास्थ्य को देखकर पन्द्रह दिन बिस्तर में ही आराम करने की सलाह दी । किन्तु कस्तूरभाई ने कहा मुझे अहमदाबाद ले चलो मैं वहीं आराम करूँगा । डाक्टर ने प्रवास नहीं करने की सलाह दी किन्तु कस्तूरभाई के मन में अहमदाबाद के प्रति ऐसी आत्मीयता थी कि उन्होंने अपने अन्तिम दिन अहमदाबाद में ही बिताने की तीव्र इच्छा व्यक्त की । उनको बैचेन देखकर डाक्टर ने अंत में अहमदाबाद जाने की सम्मति दी । वेदना होने पर भी कस्तूरभाई के मुख पर आनन्द छा गया एम्ब्यूलेन्सवान द्वारा स्टेशन लाए गये । दूसरे दिन सुबह जब अहमदाबाद पहुँचे तब मन प्रसन्न हो गया, मानो सारी पीडा समाप्त हो गयी हो, परन्तु १९ जनवरी को दिव्यधाम के आमंत्रण को शान्ति पूर्वक स्वीकार कर उन्होंने उसके लिए प्रस्थान कर दिया ।

कस्तूरभाई मानते थे कि व्यक्ति की मृत्यु से देश का उत्पादन रुकना नहीं चाहिए । उनके अनुसार व्यक्ति को सही श्रद्धांजलि तो उसकी भावनानुसार काम करके ही दी जानी चाहिए । उन्होंने स्पष्ट

निर्देश दिया था कि मेरे अवसान के शोक में एक भी मिल बन्द नहीं रहनी चाहिए । उनके पुत्रों ने उनकी यह इच्छा लालभाई ग्रुप की नौ मिलों के सभी कर्मचारी-गणों को सूचित कर दी । 'कार्य करो' इसे सेठ का अंतिम आदेश मानकर काम पर लग गये । सारा अहमदाबाद शहर जिनके शोक में बन्द रहा वहीं उन्हीं की मिलें उस दिन कार्यरत रहीं यही एक अपूर्व घटना थी ।

धीरुभाई ठाकर



## सम्पादकीय एवं प्रकाशकीय

मुझे इस प्रकारके अध्ययन और उसे ग्रंथबद्ध करनेकी प्रेरणा श्री महावीर जैन विद्यालय द्वारा प्रकाशित 'आचारांग'से ही मिली। उसमें मूलग्रंथकी प्रतों और चूर्णीका उपयोग करके अनेक पाठान्तर दिये गये हैं। इस संस्करणकी जब शुभ्रिग महोदय द्वारा संगठित आचारांगके साथ तुलना की गयी तब तो भाषाविषयक बड़ा ही आश्चर्य हुआ। शुभ्रिग महोदयके संस्करणमें शब्दावली प्रायः महाराष्ट्री प्राकृत की है, अर्थात् व्याकरणकारोंने महाराष्ट्री प्राकृत भाषाके लिए ध्वनि-परिवर्तन सम्बन्धी जो नियम बनाये उनका प्रायः अक्षरशः पालन किया गया हो ऐसा लगा जबकि उन्होंने द्वारा सम्पादित 'शशिभासियाई' ग्रंथ देखा गया तो और भी आश्चर्य हुआ क्योंकि इसमें मध्यवर्ती 'त'को 'त-श्रुति' मानकर उसे सर्वथा निष्कासित नहीं किया गया है और इस व्यंजनके अलावा अन्य अल्पप्राण और महाप्राण व्यंजनोंकी यथावत् स्थिति भी जगह जगह पर मिलती है। आगम दिवाकर पू. मुनि श्री पुण्यविजयजी और पं. श्री बेचरभाई दोशीका भी यही कहना था कि अर्धमागधी आगमोंमें मध्यवर्ती व्यंजनोंका लोप इतने प्रमाणमें नहीं था जितना आजके संस्करणों में मिल रहा है। इस प्रकार यदि अर्धमागधी भाषा भी पालि भाषाकी तरह पुरानी है और अशोकके शिलालेखोंसे पहलेकी भाषा है तब तो उसका रूप दूसरा ही होना चाहिए था। अध्ययनकर्ताओंकी और लेखियोंकी अनेक पीढ़ियोंके हाथ मूल अर्धमागधीका अनेक शताब्दियों दरम्यान रूप ही बदल गया। इस तथ्यके प्रमाण हमें हस्तप्रतोंमें मिल रहे हैं। इन सब प्रमाणोंको यहाँ पर ग्रंथबद्ध किया गया है। यह तो मात्र अन्वेषणका प्रथम प्रयत्न है, इस सम्बन्धमें मेरे ख्यालसे अभी आगे और कार्य करनेकी आवश्यकता है। उपलब्ध हस्तप्रतोंसे सभी पाठान्तर्गोंकी सूची बनाकर उनमेंसे भाषाकी दृष्टिसे जो जो प्राचीनतम पाठ हैं उन्हें खोज निकालना चाहिए। इस सम्बन्धमें एक और कार्य करनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है। वह यह कि अर्धमागधी आगम साहित्यमेंसे मूल अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृतके शब्दों और रूपोंको अलग अलग किया जाना चाहिए जिससे प्राचीन अर्धमागधीका स्वरूप स्पष्ट हो सके। यह तो संशोधन कार्य करनेवाली किसी मातृ संस्थाका कार्य है, किसी एक व्यक्ति द्वारा यह कार्य किया जाना बहुत कठिन है। आशा की जाती है कि शोध संस्थाएँ, सरकार और जैन समाज इस विषय पर ध्यान देंगे।

आनंदकी बात है कि हमारी संस्थाका यह आठवाँ प्रकाशन है। पं. श्री दलसुखभाई मालवणिया और डॉ. श्री ह. चू. भायाणीकी तरफसे जो सहयोग मिलता रहा है उसके लिए मैं और हमारी संस्था उनकी आभारी हैं। इस संस्थाके कार्योंके लिए जो प्रोत्साहन और आर्थिक सहयोग मिलता रहा है उसके लिए हम 'श्रेष्ठी कस्तूरभाई लालभाई स्मारक निधि'के सभी ट्रस्टियों और श्री आत्मारामभाई सुतरियाके विशेष आभारी हैं। डॉ. कु. प्रीति महेता और कु. शोभना आर. शाह भी धन्यवादके पात्र हैं जो संस्थाके कार्यमें मदद करती रही हैं।

संस्था के उत्साही प्रमुख श्री बी. एम. बालर का भी इस अवसर पर स्मरण करते हुए आनन्द का अनुभव होता है।

इस ग्रंथके मुद्रणके लिए श्री पीताम्बरभाई जे. मिश्रा गायत्री लेबर प्रिन्टर्स और मुद्रणालयके सभी कार्यकर्ताओंका भी हम आभार मानते हैं।

ता. ९-१-९२

के. आर. चन्द्र

मानद मंत्री

## एक विशिष्ट प्रयत्न

कई विद्वानोंने जैनागम—आचारांगका समय ई. स. पूर्व ३००के आसपास रखा है किन्तु अब तक किसी विद्वानने उस समयमें लिखे गये अशोकके शिलालेखोंकी भाषाके साथ आचारांगकी भाषा की तुलना नहीं की। किसी को यह विचार भी नहीं आया कि जब दोनोंका लगभग एक ही समय है तब भाषामें इतना अन्तर क्यों? दूसरी बात यह है कि भ. महावीर और भ. बुद्ध दोनोंने अपने उपदेश बिहारमें दिये हैं तो उस प्रदेश की भाषामें ही दिये हेगें तब फिर जैनागम और पालि पिटक की भाषामें भी समानता क्यों नहीं?

इन्हीं प्रश्नोंको लेकर डॉ. के. ऋषभचन्द्रने सर्व प्रथम अशोक के लेख, पालि पिटक और जैनागम—आचारांगकी भाषाका अभ्यास करनेका प्रयत्न किया है। मैं साक्षी हूँ कि इसके लिए उन्होंने अपने अभ्यासकी सामग्री लगभग ७५ हजार कार्डोंमें एकत्र की है। आचारांगके साथ साथ सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन, दश-वैकालिक, सुत्तनिपात और अशोकके शिलालेखोंके शब्दोंके संस्कृत रूपान्तरके साथ कार्ड तैयार करवाये हैं। इसी सामग्रीका प्रस्तुत ग्रन्थ “प्राचीन अर्धमागधीकी खोज में”में उपयोग किया गया है। उन्होंने इस समस्याके समाधानके लिए जो लेख लिखे उन्हींका संग्रह प्रस्तुत ग्रंथ में है।

प्रस्तुत ग्रन्थ एक छोटी सी पुस्तिका ही है परन्तु उसके पीछे डॉ. चन्द्रका कई वर्षोंका प्रयत्न है—यह हमें भूलना नहीं चाहिए। जैनागमोंके संशोधनकी प्रक्रिया शताधिक वर्षों से चल रही है किन्तु उस प्रक्रियाके एक नयी दिशा यह पुस्तिका दे रही है यह यहाँ ध्यान देनेकी बात है और इसके लिए विद्वज्जगत् डॉ. चन्द्रका आभारी रहेगा इसमें कोई संशय नहीं है।

विशेष रूपसे भगवान महावीरने जिस भाषामें उपदेश दिया वह अर्धमागधी मानी जाती है तो उसका मूल स्वरूप क्या हो सकता है यह डॉ. चन्द्रके संशोधनका विषय है। इसी लिए उन्होंने प्रकाशित जैन आगमोंके पाठों की परंपराका परीक्षण किया है और दिखानेका प्रयत्न किया है कि भाषाके मूल स्वरूपको बिना जाने ही जो प्रकाशन हुआ है या किया गया है अन्यथा एक ही परामें एक ही शब्दके जो विविध रूप मिलते हैं वह संभव नहीं था। उन्होंने प्रयत्न किया है कि प्राचीन अर्धमागधीका क्या और कैसा स्वरूप हो सकता है उसे प्रस्थापित किया जाय। आचार्य हेमचन्द्रके प्राकृत व्याकरणका भी नयी दृष्टिसे किया गया अध्ययन प्रस्तुत ग्रन्थमें मिलेगा।



उदाहरणके तौर पर 'क्षेत्रज्ञ' शब्द के विविध प्राकृत रूपोंको लेकर तथा आचारांगके उपोद्घातरूप प्रथम वाक्यको लेकर जो चर्चा भाषाकी दृष्टिसे की गयी है वह यह दिखानेके लिए है कि जो अभी तक मुद्रण हुआ है वह भाषा विज्ञानकी दृष्टिसे कितना अधूरा है ।

डॉ. चन्द्रका यह सर्व प्रथम प्रयत्न प्रशंसाके योग्य है । इतना ही नहीं किन्तु जैनआगमके संपादनकी प्रक्रियाको नयी दिशाका बोध देने वाला भी है और जो आगम-संपादनमें रस ले रहे हैं वे सभी डॉ. चन्द्रके आभारी रहेंगे ।

८ ओपेरा सोसायटी

अहमदाबाद-७

ता : ११-१२-९१

दलसुख मालवणिया

## Abbreviations

- अ. सू : अध्याय और सूत्र  
उ सू : उद्देशक और सूत्र  
आल्सडर्फ : Ludwig Alsdorf, Kleine Schriften,  
Wiesbaden, 1974  
आगमो(दय) : आगमोदय समिति, मेहेसाणा  
जै वि. भा. : जैन विश्व भारती, लाडनूं  
न. नम्बर  
पृ. पृष्ठ  
म. जै. वि. : महावीर जैन विद्यालय, बम्बई  
मेहेण्डले : M. A. Mehendale : Historical Grammar  
of Inscriptional Prakrits  
शापे. : जे शापेण्टियर  
शु., शुत्रिग : डॉ. वाल्पेर शुत्रिग

# अनुक्रमणिका

अध्याय	शीर्षक	पृष्ठ
१	जैन आगम ग्रंथों के विविध संस्करणों में अर्धमागधी की स्थिति	१-३४
२	अर्धमागधी में प्राचीन भाषाकीय तत्त्व	३५-५२
३	अर्धमागधी आगम ग्रंथों की प्राचीनता और उनकी रचना का स्थल	५३-६७
४	आचार्य श्री हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण की अर्धमागधी भाषा	६८-७९
५	प्राचीन अर्धमागधी प्राकृत की मुख्य लक्षणिकाएँ	८०-८४
६	क्षेत्रज्ञ शब्द का अर्धमागधी रूप	८९-९३
७	आचारांग के उपोद्घात के वाक्य का पाठ	९४-९९
८	मूल अर्धमागधी की पुनः रचना : एक प्रयत्न विषय-सूची संदर्भ ग्रंथ	१००-१०६ १०७ १११

# 1. जैन आगम-ग्रंथों के विविध संस्करणों में अर्धमागधी की स्थिति

अर्धमागधी के जैन आगम-ग्रंथों के विविध संस्करणों में भाषाकीय एक-रूपता ( विशेषतः ध्वनि-परिवर्तन-सम्बन्धी ) नहीं मिल रही है । समय के प्रवाह के साथ पाठों में भाषाकीय परिवर्तन होते गये हैं और साथ ही साथ प्राचीनतादर्शी पाठ भी किसी न किसी अंश में बचे हुए मिलते हैं । किसी ग्रंथ में या किसी संस्करण में प्राचीन तो किसी में परवर्ती, एक ही संस्करण में कहीं पर प्राचीन तो कहीं पर परवर्ती भाषाकीय प्रयोग मिलते हैं । इन मुद्दों को ही यहाँ पर सोदाहरण स्पष्ट किया गया है और यह आशा भी व्यक्त की गयी है कि उपलब्ध प्राचीन (सामग्री) प्रयोगों के आधार से पुनः सम्पादन करके जैन आगमों की प्राचीनता की सुरक्षा में हम कहाँ तक सफल हो सकते हैं ।

## (क) अर्धमागधी आगम-ग्रंथों के पाठ बदल जाना

भाषाकीय दृष्टि से अर्धमागधी आगमों के पाठ बदल जाने के बारे में आगमों के गंभीर अध्येता आगम-दिवाकर पू. मुनि श्री पुण्य-विजयजीने अपने कल्पसूत्र<sup>1</sup> के संस्करण में जो बातें कही हैं वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं । इस विषय में उनका जो अभिप्राय है उसका सार नीचे दिया जा रहा है :—

- (१) सभी प्रतियों में भाषा की दृष्टि से अधिक वैषम्य है ।
- (२) चूर्णिकार और टीकाकारों ने जो पाठ या आदर्श अपनाये होंगे वे आदर्श प्रतियाँ हमारे सामने नहीं हैं ।

१. कल्पसूत्र, पू. श्री पुण्यविजयजी, साराभाई मणिलाल नवाब, पृ. ३ से ७ (मूल गुजराती), १९५२.

- (३) मौलिक पाठों के त्रिषय में पुनः गंभीर विचार करना आवश्यक है ।
- (४) चूर्णिकार के सामने जो पाठ थे वे किसी भी प्रत में नहीं मिले ।
- (५) मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजन का प्रायः लोप और महाप्राण का प्रायः ह—इन नियमों को इतना अधिक स्थान प्राप्त नहीं था ।
- (६) परवर्ती आचार्यों ने जानबुझकर प्रयोगों को बदला है अथवा प्राचीन शब्द-प्रयोग नहीं समझने के कारण उनको बदल दिया है । फिर भी अनेकानेक स्थलों पर मौलिक प्रयोग बच गये हैं ।
- (७) परवर्ती काल में हरेक प्रदेश में प्राकृत भाषा खिचड़ी बन गयी है और आगमों की भाषा भी खिचड़ी बन गई है ।<sup>१</sup>
- (८) इन सभी कारणों से जन अर्धभागधी आगमों की मौलिक भाषा कैसी थी उसे खोज निकालना दुष्कर हो गया है । हरेक आगम ग्रंथ, भाष्य और चूर्णी ग्रंथ में यह परिवर्तन घर कर गया है ।
- (९) संशोधन के लिए मात्र पू. हेमचन्द्राचार्यका व्याकरण पर्याप्त नहीं है ।

पू. मुनिजी के अभिप्राय के जो मुद्दे ऊपर दिये गये हैं उनमें से नं. ३, ५, ६ और ९ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं । हमारे अध्ययन तथा संशोधन कार्य के दरमियान हमें भी ऐसी ही प्रतीति हुई है कि भाषाकीय दृष्टि से जैन आगमों का पुनः सम्पादन किया जाना चाहिए ।

१. क्या इसी कारण पू. हेमचन्द्राचार्य के प्राकृत व्याकरण में अर्धभागधी की अपनी कोई मौलिकता स्पष्ट रूप में उपलब्ध नहीं हो रही है ।

## (ख) प्राचीन भाषा में कालान्तर से आगत परिवर्तनों के कतिपय उदाहरण

प्राचीन भाषा में किस प्रकार परिवर्तन आये हैं उनकी स्पष्टता कुछ प्रयोगों के आधार से की जा सकती है ।

### (१) 'जीवित' शब्द

(अ) सब्वेसं जीवितं पियं—धम्मपद, १३०

(ब) सब्वेसि जीवितं पियं—आचारांग, सूत्र ७८

(म. जै. वि. संस्करण)

धम्मपद और आचारांग में 'जीवित' शब्द एक समान मिल रहा है क्योंकि भगवान बुद्ध और भगवान महावीर समकालीन थे, इतना खयाल रखना चाहिए । इस शब्द में परवर्ती काल में जो परिवर्तन आया वह शुत्रिंग महोदय के संस्करण से स्पष्ट होगा । उनके संस्करण में पाठ इस प्रकार है :—

(स) 'सब्वेसि जीवियं पियं'—आचा. पृ. ८.२५ । यहाँ पर 'जीवियं' शब्द पर व्याकरणकारों के ध्वनि-परिवर्तन के नियम का प्रभाव स्पष्ट तौर से नज़र आ रहा है ।

### (२) 'क्षेत्रज्ञ' शब्द

आचारांग में ही (म. जै. वि.) क्षेत्रज्ञ शब्द के अनेक प्राकृत रूप मिलते हैं—खेत्तन्न, खेतन्न, खेदन्न, खेदण्ण, खेतण्ण और खेयण्ण ।

क्या ये सभी रूप एक ही काल और एक ही क्षेत्र में एक साथ चले होंगे? स्पष्ट है कि इनमें (पूर्वा क्षेत्र) मागधी, (उत्तरी क्षेत्र) शौरसेनी और (पच्छिमी क्षेत्र) महाराष्ट्री—तीनों प्राकृत भाषाओं के रूप विद्यमान हैं । अन्तिम चार रूपों पर व्याकरणकारों का प्रभाव बिलकुल स्पष्ट है और वे क्रमशः परवर्ती काल में प्रविष्ट हुए हैं ।



### (३) 'आत्मन्' शब्द

आचारांग में इसके लिए अत्ता, आता और आया तीनों शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इनमें से आया शब्द क्या स्पष्टतः परवर्ती काल का रूप नहीं है ? आता के मध्यवर्ती 'त' के लोप से बने आया शब्द पर व्याकरणकारों का ही प्रभाव है।

सूत्रकृतांग (1.4.2.22. आल्सडर्फ) में अध्यात्म के लिए अज्जत्त—(विसुद्धे) का प्रयोग है जबकि अन्य संस्करणों में अज्जत्थ (विसुद्धे) मिलता है जो परवर्ती प्रयोग है (देखिए *Kleine Schriften*, p. 200).

### (४) 'मोक्ष' शब्द (उत्तराध्ययन, अ. ४.३)

(अ) मोक्खु (पुण्यविजयजी, म. जै.वि.) पाठान्तर—मुक्खु, मुक्ख।

(ब) मुक्ख (शापेण्टियर संस्करण)

शब्द के द्वितीय पाठ में संयुक्त व्यंजन के पहले जो ओ का उ कर दिया गया है यह भी परवर्ती भाषाकीय प्रभाव ही है।

### (५) व्यंजन ळ (वैदिक) का प्रयोग

व्याकरणकारों का कहना है कि ळ का प्रयोग सिर्फ पालि और पैशाची तक ही सीमित है। परंतु इसका प्रयोग आचारांग और सूत्रकृतांग में किसी न किसी प्रकार कहीं न कहीं बच गया है :—

लेळु, लेळुंसि (आचारांग, पिशल 379), लेळुणा (आचारांग, सूत्रकृतांग, पिशल 304, 379)।

इस 'ळ' के स्थान पर आधुनिक संस्करणों में 'ल' मिलता है। प्राचीनता किस प्रकार अदृश्य होती गयी उसका यह भी एक अच्छा उदाहरण है।

(६) नीचे दिये जा रहे पाठान्तरों में परवर्ती काल की भाषाकीय लक्षणिकताएँ स्पष्टतः दृष्टिगोचर हो रही हैं:—

(म. जै. वि. संस्करण)

अनितियं

सहसम्मुइया<sup>1</sup>

अणुपुन्वीय

पमज्जिया

(पाठान्तर)

अणिच्चं (आचा. 1.1.5.45)

सहसम्मुइए (आचा. 1.1.1.2)

अणुपुन्वीए (आचा. 1.8.8.230)

पमज्जिज्जा (आचा. 1.9.1.273)

आचारांग के ही किसी न किसी संस्करण में ऊपरवाले पाठान्तर मूल पाठ के रूप में अपनाये गये हैं जो परवर्ती काल के पाठ हैं ।

(७) श्रुतं मे भगवता...के प्राकृत पाठ के विषय में

(अ) आचारांग (म. जै. वि.) के प्रारम्भ में ही इस प्रकार का पाठ है :—

सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं (1.1.1.1) ।

(ब) मूलाराधना पर विजयोदया टीका<sup>2</sup> का पाठ है :—

सुदं मे आउस्संतो ! भगवदा एवमक्खादं ।

(स) सूत्रकृतांग में एक जगह ( 2.2.694 ) पाठ इस प्रकार है :—

सुतं मे आउसंतेणं भगवता एवमक्खातं (म.जै.वि.) ।

(द) इसिभासियाइ' के हरेक अध्ययन में 'अरहता बुइंत' पाठ मिलता है जिसमें मूल 'त' यथावत् है परंतु ऊपर दिये गये पाठों में एक में त का द और एक में त का य मिल रहा है ।

1. अन्य प्रमाणों के अनुसार यही पाठ सही है । मुद्रित 'सहसम्मुइयाए' पाठ में दो विभक्तियाँ—या और—ए लगी हैं । देखिए : 'सहसम्मुयाए' पाठ पर कुछ चर्चा; A.I.O.C. Proceedings, Calcutta, 1986

2. आचारांग, प्रस्तावना, पृ. 36 (म. जै. वि. संस्करण) ।

(८) ध्वनि-परिवर्तन के कारण हस्तप्रतों में परवर्ती काल के पाठ उतर आने के उदाहरण :—

(अ)	(प्रकाशित ग्रन्थपाठ <sup>1</sup> )	(प्रतों में पाठान्तर)	(सूत्र नं.)
	पिच्छाए	पिंछाए	आचा. 52
	पुच्छाए	पुंछाए	" 52
	मन्ता	मंता	आचा. शुब्रिंग पृ. 4.15

जघा, तघा के स्थान पर 'जहा', 'तहा' पाठ अपनाया गया है।  
देखिए सूत्र. 92 के पाठान्तर

एगदा	एगता	आचा. 79
णस्सति	णासति	" 79
एतं	एयं	" 79
पवेदितं	पवेतियं	" 79
अधे—	अहे—	" 1
थीमि	थीहि	" 84
अभिक्वंतं	अहिक्वंतं	" 1.2 1.5
विपरीयासं	विवज्जासं, विवरीयं	(जै. वि. भा. संस्करण) सूत्रकृ. 1.1.4.9

### 1. महावीर जैन विद्यालय संस्करण

(ब) आचारांग की चूर्णि की प्रतों के पाठ

मत्ता के लिए	मंता	आचा. सूत्र	40
लोगं "	लोगं	"	22
कूराणि "	कूराइं	"	82
कम्माणि "	कम्माइं	"	82
परिवंदण "	परियंदण	"	7
अतिथिबले "	अतिथिबले	"	79

(९) पालि भाषा के सुत्तनिपात् से भी इसी प्रकार के ध्वन्यात्मक परिवर्तन के पाठान्तर ध्यान में लेने योग्य हैं :-

पहस्समाणो (50.10) का पहंसमाणो और वीतरस्मि के लिए वीतरंसी (55.4.) पाठान्तर मिलते हैं ।

स्पष्ट है कि काल के प्रवाह के साथ ग्रंथ की प्राचीन भाषा में किस प्रकार परिवर्तन होते रहे हैं ।

(ग) आचारांग के दो संस्करणों (शुब्रिग महोदय और पू. जंबूविजयजी) की विशेषताएँ

शुब्रिग<sup>1</sup> महोदय द्वारा मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजनों का लोप और महाप्राणों का ह्र कर दिया गया है अर्थात् व्याकरणकारों के नियमों का अक्षरशः पालन हुआ है । इसके विपरीत पू. जंबूविजयजी<sup>2</sup>

१. आचारांग, टीपज़िग, 1910

२. आचारांग, म.जै वि, 1977

के संस्करण में मध्यवर्ती व्यंजन अधिकतर यथावत् स्थिति में पाये जाते हैं। शुत्रिग महोदय ने शब्द के अन्दर के तकार और विभक्ति, प्रत्यय, कृदन्त इत्यादि के ता, ति, तु, तुं, तो इत्यादि का सर्वथा लोप कर दिया है जबकि उन्हीं के द्वारा उपयोग में ली गयी प्रतों में से प्राचीनतम ताडपत्रीय प्रत में (ए संज्ञक) वर्तमानकाल के प्रत्यय—ति की उपलब्धि 50 प्रतिशत है, सर्वत्र—ति के स्थान पर—इ नहीं मिलता है<sup>1</sup>। पू. जंबूविजयजी के संस्करण में मध्यवर्ती त का लोप अल्पमात्रा में मिलता है। शुत्रिग महोदय के संस्करण में मध्यवर्ती व्यंजनों का लोप 50 प्रतिशत से अधिक मात्रा में मिलता है जबकि जंबूविजयजी के संस्करण में 25% ही मिलता है।<sup>2</sup>

शुत्रिग महोदय के संस्करण में प्रारंभिक नकार, अव्यय न, मध्यवर्ती और प्रारंभिक न्य, मध्यवर्ती न्न, प्रारंभिक और मध्यवर्ती ज्ञ के स्थान पर न और न्न ही मिलता है जबकि पू. जंबूविजयजी के संस्करण में ण और ण्ण मिलता है। प्राकृत भाषा के क्रमशः विकास की दृष्टि से पू. जंबूविजयजी ने परवर्ती काल की लाक्षणिकता के प्रयोग अपनाये हैं जबकि शुत्रिग महोदय ने यहाँ पर प्राचीन पद्धति अपनायी है।<sup>3</sup>

१. उन्हीं के द्वारा सम्पादित 'इसिभासियाई' में मध्यवर्ती - त - की यथावत् स्थिति (अलग अलग अध्ययनों में) ५० से १०० प्रतिशत मिलती है।
२. शुत्रिग महोदय द्वारा सम्पादित 'इसिभासियाई' में मध्यवर्ती व्यंजनों का लोप कभी १०, कभी २५, कभी ३५ और औसतन लगभग २५ प्रतिशत ही मिलता है।
३. देखिए मेरा लेख :

प्राचीन प्राकृत भाषा में आद्य नकार या णकार; प्राकृत विद्या, उदयपुर, जुलाई-सितम्बर, १९८९

सजातीय व्यंजनों के साथ संयुक्त रूप में आनेवाले कण्ठ्य और तालव्य अनुनासिक ङ् और ञ् के प्रयोग शुब्रिग महोदय के संस्करण में यथावत् मिलते हैं परंतु पू. जम्बूविजयजी के संस्करण में इन अनुनासिक व्यंजनों के स्थान पर सर्वत्र अनुस्वार कर दिये गये हैं । यह पद्धति भी एक प्रकार से प्राचीनता को अर्वाचीनता में बदलने की ही है<sup>१</sup> ।

इस तरह से यह साबित होता है कि अलग अलग सम्पादकों ने प्राचीन ग्रंथों के सम्पादन में अपने अलग अलग सिद्धान्त बनाये हैं और ग्रन्थ की प्राचीनता का ध्यान में रखकर प्राचीन भाषा-प्रयोगों को प्राधान्य नहीं दिया है ।

(घ) विभिन्न संस्करणों में अलग अलग ध्वनि-परिवर्तन वाले शब्द और प्रत्यय

(१) आचारांग के पाठ

शुब्रिग	आगमोदय	जै.वि.भा.	म.जै.वि.के	सूत्र नं.
(अ) ध्वनि-परिवर्तन : क = क, ग, य				
लोगावाई	लोयावादी	लोगावाई	लोगावादी	1.1.1.3
लोगं	लयं	लयं	लोगं	1.1.3.22
लोगंसि	लोगंसि	लोगंसि	लोगंसि	1.1.1.9
महोवगरणं	महोवगरणं	महोवगरणं	महोवकरणं	1.2.4.82
बहुगा	बहुगा	बहुगा	बहुया	1.2.4.82
उदय-	उदय-	उदय -	उदय-	1.1.3.26

१. देखिए मेरा लेख : "प्राचीन प्राकृत में ङ् और ञ् के परिवर्तन की समीक्षा", प्राकृत विद्या, जुलाई-दिसम्बर, १९९०.

शुब्रिंग	आगमोदय	जै.वि.भा.	म.जै.वि.	सूत्र नं.
----------	--------	-----------	----------	-----------

ज = ज, य

वियहित्तु	वियहिता	विजहित्तु	विजहिता	1.1 3.20
-----------	---------	-----------	---------	----------

त = त, अ, य

भगवया	भगवता	भगवया	भगवता	1.1.1.7
पवेइया	पवेइआ	पवेइया	पवेदिता	1.1 1.7
पवेइया	पवेदिता	पवेदिता	पवेदिता	1 1.1.24
अन्नयरीओ	अण्णयरीओ	अण्णयरीओ	अन्नतरीतो	1.1.1.1
"	"	"	अन्नतरीओ	1.1.1.2
अहियाए	अहिआए	अहियाए	अहिताए	1.1.2.1
भवइ	भवइ	भवइ	भवति	1.1.1.1
भवइ	भवति	भवति	भवति	1.1.1.1

द = द, य

कम्मावाई	कम्मावादी	कम्मावाई	कम्मावादी	1.1.1.3
पडिसंवेएइ	पडिसंवेदेइ	पडिसंवेदेइ	पडिसंवेदयति	1.1.1.6
उयरं	उदरं	उयरं	उदरं	1.1.2.15
उदय—	उदय—	उदय—	उदय—	1.1.3.26

घ = घ, ह

अहेदिसाओ	अहोदिसाओ	अहेदिसाओ	अघेदिसातो	1.1.1.1
----------	----------	----------	-----------	---------

शुब्रिग	आगमोदय	ज.वि.भा.	म.जै.वि.	सूत्र नं.
---------	--------	----------	----------	-----------

न = न, ण

नो	णो	णो	णो	1.1.1.1
नत्थि	नत्थि	णत्थि	णत्थि	1.1.1.1

ज्ञ = न्न, ण्ण

नायं	णायं	णातं	णातं	1.1.1.1
समणुन्ने	समणुन्ने	समणुण्णे	समणुण्णे	1.1.1.4

न्न = न्न, ण्ण

अइन्नायाणं	अदिन्नादाणं	अदिन्नादाणं	अदिन्नादाणं	1.1.3.26
छिन्नं	छिण्णं	छिन्नं	छिण्णं	1.1.5.45

न्य = न्न, ण्ण

अन्नयरीओ	अण्णयरीओ	अण्णयरीओ	अन्नतरीतो	1.1.1.1
अन्नेसिं	अण्णेसिं	अण्णेसिं	अण्णेसिं	1.1.1.2

(ब) विभक्ति :—

चुओ	चुए	चुओ	चुते	1.1.1.1
अणेगा	अणेगे	अणेगा	अणेगा	1.1.3.26
अन्नयरम्मि	अण्णयरंमि	अण्णयरंसि	अण्णयर मि	1.2.6.96

(स) क्रिया-रूप :—

अदक्खू	अदक्खू	अदक्खू	अदक्खू	1.9.1.27
सहए	सहई	सहते	सहती	1.2.6.98
पडिसंवेएइ	पडिसंवेदेइ	पडिसंवेदेइ	पडिसंवेदयति	1.1.1.6
अणुपालिया	अणुपालिज्जा	अणुपालिया	अणुपालिया	1.1.3.20



(द) कृदन्त :-

वियहित्तु	वियहित्ता	विजहित्तु	विजहित्ता	1.1.3.20
-----------	-----------	-----------	-----------	----------

(२) इत्थीपरिन्ना (सूत्रकृतांग I 4) के पाठ

आल्सडर्फ	म.जै.वि.	जै.वि.भा.	पुण्यविजयजी	उ. सू.
----------	----------	-----------	-------------	--------

(अ) ध्वनि-परिवर्तन :- क=क, ग, य

एगया	एगता	एकदा	एकदा	1.14
साविया	साविया	साविका	साविया	1.26
उवकसन्ति	उवकसन्ति	उवकसन्ति	-	1.20
उवगसित्ताणं	उवगसित्ताणं	उवगसित्ताणं	-	1.7
-जाइया	-जातिका	-जातिका	-जाइया	2.19
-पागाए	-पागाए	-पागाए	-पायाय	2.5

ग=ग, अ

भोग-	भोग-	भोग--	भोग-	2.1
मिए	मिए	मिए	मिए	1.9

ज = ज, अ

ओए	ओजे	ओए	ओए	2.1
तेयसा	तेयसा	तेयसा	तेयसा	1.21

त = त, द, य

—जाइया सरपादगं	--जातिका सरपादगं	--जातिका सरपायगं	--जाइया सरपादगं	2.19 2.13
-------------------	---------------------	---------------------	--------------------	--------------

थ = घ, ह

गोरहगं अह	गोरहगं अह	गोरहगं अह	गोरघगं अघ	2.13 1.18; 2.2
--------------	--------------	--------------	--------------	-------------------

द = द, य, त

एगया आदंसगं	एगता आदंसगं	एगया आयंसगं	एगता आतंसगं	1.4 1.14 2.11
----------------	----------------	----------------	----------------	---------------------

घ = घ, ह

अहे	अहे	अहे	अघे	1.3
-----	-----	-----	-----	-----

(ब) विभक्ति, क्रियारूप और कृदन्त :—

आइट्टो —पागाए	आइट्टो —पागाए	आइट्टो —पागाए	आइट्टे पायाय	1.19 2.5
”	”	”	पाताए	2.10
आघाए संठवन्ति	आघाति संठवेन्ति	आघाए संठवेन्ति	आघाति —	1.11 2.17
पवेसाहि	पवेसेहि	पवेसेहि	पवेसेहि	2.11
आदाय	आयाए	आयाए	—	1.10

(स) इत्थीपरिन्ना (सूत्रकृ. 1.4) से कुछ और उदाहरण

सूत्र नं.	संस्कृत	प्राकृत	संस्करण
1.4.1 25	रुक्षम्	रुहं [अन्य संस्करण]	रुखं [जै.वि.भा.]
1.4.1.17	गृहाणि	गिहाणि [पुण्यवि.]	गिहाइं [अन्य]
1.4.1 2	सूक्ष्मेण	सुहुमेनं [आल्सडर्फ]	सुहुमेण [अन्य]
1.4.1.24	वाचा	वाया [आल्सडर्फ]	वायाइ, वायाए [अन्य]
1.4.1.16	आत्महिताय	आतहिताय (म.जै.वि.)	आयहियाए [अन्य]
1.4.1.15	भवन्ति	भवंति [पुण्यवि.]	होंति [अन्य]
1.4.1.9	मुच्यते	मुच्चए [आल्सडर्फ]	मुच्चती, मुच्चई [अन्य]
1.4.1.31	इच्छेत्	इच्छे [अन्य]	इच्छेज्ज [पुण्यवि.]
1.4.1.12	विहरेत्	विहरे [अन्य]	विहरेज्ज [आल्सडर्फ]

(३) सूत्रकृतांग (1.6)

(म.ज.वि.)	(जै.वि.भा.)	(अ. सूत्र नं.)
पन्नसा	पण्णया	1.6.8
महीय	महीए	1.6.13

परवर्ती काल के शब्द और रूपों ने किस प्रकार लेहियों और संपादकों को प्रभावित किया है तथा साथ ही साथ प्राचीन शब्द और रूप बच भी पाये हैं उनका यह स्पष्ट चित्र उपस्थित हो रहा है।

(४) इसिभासियाइं

(शुब्रिंग)	(म, जै, वि.)	(अध्याय)
चउत्थं	चतुःथं	1
उवहाणवं	उवघाणवं	1
आयाति	आयाइ	2
भविदव्वं	भवितव्वं	3
कोहं	कोधं	"
जघा	जहा	"
परिन्नाता	परिण्णाता	"
वेदणा	वेयणा	11
घट्टति	घट्टइ	"

(५) उत्तराध्ययन

(अ)	(शार्पेण्टियर) संभूय	(आल्सडर्फ) संभूत	(अ. सू.) 13.11
ब	(म. जै. वि.) *	(जै. वि. भा.)	
	कामभोए	कामभोगे	13.34
	भोगाइं	भोगाइं	13.20

\* 'सामायारी' के 26 वें अध्ययन में मध्यवर्ती 'ग' म. जै. वि. के संस्करण में 7 बार यथावत् मिलता है जबकि शार्पेण्टियर और जै. वि. भारती के संस्करणों में ग का प्रायः लोप मिलता है।

(स)	(शार्पे.)	(जै.वि.भा.)	(म.जै.वि.)	(अध्याय)
	नियानपयडा	नियानप्पगडा	निदानपगडा	13.8
	उच्चोयए	उच्चोयए	उच्चोदए	13.13
	कम्माइं	कम्माइं	कम्माणि	13.26
	महालया	महालयाइं	महालयाणि	13.26
	सेसाणि	सेसाणि	सेसाइं	26.28
	चउत्थीइ	चउत्थीए	चउत्थीइ	26.12

## (6) आचारांग - निर्युक्ति, अध्याय 1 (आगमोदय समिति)

(निर्युक्ति)	(गाथा नं.)	(ध्वनि)	(चूर्णि में उद्धृत गाथा)	(पृ. नं.)
एक्का	19	(क)	एगा	4
सोलसगं	20		सोलसयं	5
संजोरो	20	(ग)	संजोए	5
पगई	29	(त)	पयती	5
गइमाहारो	30		गति-आहारे	6
पयसहस्सिओ	"	द	पदसहसिओ	
अट्टपएसो	42		अट्टपदेसो	10
निस्संगया	34	(न)	गिस्संगया	7
सण्णा	63		सन्ना	12

## (विभक्ति एवं क्रिया-रूप)

आचालो	7	आचाले	2
गइमाहारो	30	गति आहारे	6
जाणिज्जा	4	जाणेज्जा	4

(7) अन्य ग्रंथ में उद्धृत आचारांग का पाठ

आचारांग (म. जै. वि.)	मूलाराधना की विजयोदया टीका *	सूत्र नं.
उवातिक्रंते	उपातिक्रंते	214
अहा	अथा	(यथा)
-पायं	-पत्तं	588
मट्टिया-	मट्टिग-	
तहप्पगारं	तथाप्पकारं	

(च) एक ही संस्करण में अलग — अलग कालों के शब्दपाठ

(1) शुत्रिग महोदय द्वारा सम्पादित आचारांग के अन्त में दी गयी शब्द-सूची के अनुसार अलग — अलग शब्द-पाठ

(अ) विज्ञ = विष्णू, विन्नू; आर्य = आरिय, अज्ज; अर्थ = अत्थ, अट्ट; आत्मन् = अत्त, अप्प, आया; अर्हत् = अरहन्त, अरिहा; अधस् = अह, अहे, अहो; आवेश = आवेस, आएस; इत्यादि ।

(आ) क = ग, य

(i) आगर, आगास, अलद्दग, अप्पग, आहारग ।

(ii) अहिय, अभिसेय, आलइय (आलयिक), आणुगामिय ।

(इ) ज = ज, य

अजिण, अविजाणओ ।

वियहित्तु (पाठान्तर-विजहित्ता) ।

(ई) द = द, य

उदय-निस्सिया । अइन्नायाणं (अदत्तादानम्) ।

\* आचारांग, प्रस्तावना, पृ. 36-37 (म. जै. वि.)

## (2) आगमोदय-संस्करण का आचारांग

त = त, य

(अ) इच्चेते (2,5,6,7) इच्चेए (3)

(ब) परिण्णाता.....परिण्णात कम्मे (17)

परिण्णाया.....परिण्णात कम्मे (30)

परिण्णाया.....परिण्णाय कम्मे (13)

## (3) जैन विश्वभारती संस्करण का आचारांग

त = त, य

(अ) भवइ (1, 4, 134), भवति (2, 25, 48)

(आ) परिण्णाया भवंति (12), परिण्णाता भवंति (34)

(इ) जाई-मरण-मोयणाए (10), जाती-मरण-मोयणाए (103)

न = न, ण

(ई) नो सण्णा (1), णो णातं (2)

ज्ञ = ण

(उ) णातं (2, 4, 25), णायं (4, 134)

न्य = ण्ण, न्न

नेवण्णेहिं (33, 88), नेवन्नेहिं (64)

## (4) म. जै. त्रि. के संस्करण का आचारांग

त = त, य

(अ) जीवियस्स (7), जीवितस्स (24)

(आ) परिण्णाया (9), परिण्णाता (19)

(इ) दुक्खपडिघातहेतुं (7), दुक्खपडिघातहेउ (13) दुक्ख-  
पडिघायहेतुं (51)

(ई) अन्नतरीतो दिसातो (1), अन्नतरीओ दिसाओ (2)

द = द, य

(उ) पवयमाणा (23), पवदमाणा (42)

घ = घ, ह

(ऊ) अघे दिसातो (1), अहाओ वा (2)

क्ष = क्ख, ह

(ए) (1) दक्खिणाओ वा (2) दाहिणाओ वा,

(छ) एक ही संस्करण में **अलग — अलग पाठ**

(1) कभी प्राचीन तो कभी परवर्ती पाठ

(अ) आचारांग—प्रथम श्रुतस्कंध

(म. जै. वि.) खेत्तण (32, 79, 104, 176, 210),

खेतण (109, 132, 209), खेयण (88, 109)

(शुब्रिंग) अनितियं (पृ. 22. 7) अनिच्चयं (पृ. 4.30)

(जै. वि. भा.) अणितियं (29), अणिच्चयं (113)

(म. जै. वि.) अघे (174), अहे (1), तिविघेण...बहुगा (79),

तिविहेण...बहुया (82), एगदा (79), एगया (66)

(आ) इत्थीपरिन्ना (सूत्रकृतांग 1.4)

आल्सडर्फ महोदय ने इस अध्ययन के पुनः सम्पादन में कभी प्राचीन तो कभी परवर्ती शब्द-पाठ अपनाये हैं:—

द = द

वदित्ताणं (1.23)

इत्थीवेद (1.23)

पादछेज्जाइं (1.21)

द = य, अ

छन्नपएण (1.2)

वेय (1.20)

निसीयंति (1.3)



प = प	प = व
उपकसन्ति (1.20)	विरूव--रूवाणि (1.6)
न = न	न = ण
सुद्धमेँ (1.2)	छन्नपण (1.2)
(अय = ए)	(अय = अ)
निमन्तेन्ति	दंसंति
ज्ञ = न्न	ज्ञ = ण्ण
खेदन्न	पण्णा

(2) कभी कभी एक ही वाक्य में अलग अलग तीन स्तरों के शब्द-प्रयोग

आचारांग (म. जै. त्रि.)

(अ) वितहं पप्प खेत्तण्णे तम्मि ठाणम्मि चिट्ठति— 1.2.3.79

इस वाक्य में तीन स्तर के शब्द इस प्रकार हैं:—

स्तर	प्रथम	द्वितीय	तृतीय
	पप्प चिट्ठति	खेत्तण्णे वितहं	तम्मि ठाणम्मि
(आ)	वव्वेति	वह्वेति	वह्विति
(इ)	सदा	सता	—
		एगदा	एगया
			1 1 6.52
			1.1.4.33
			1 1 1.67

(३) अलग — अलग ग्रंथों के एक समान शब्दों में कालान्तर से आगत ध्वनि-परिवर्तन से उनके रचना-काल की पूर्वापरता की प्रतीति

म. जै. वि., बम्बई द्वारा प्रकाशित दो ग्रंथों **आचारांग** और **आवश्यकसूत्र** से कुछ शब्द<sup>1</sup> नीचे दिये जा रहे हैं जिन से स्पष्ट होगा कि आचारांग में शब्दों की योजना में प्राचीनता है जब कि आवश्यकसूत्र के उन्हीं शब्दों के मध्यवर्ती व्यंजनों पर परवर्ती काल के ध्वनि-परिवर्तन का प्रभाव आ गया है ।

आचारांग		आवश्यकसूत्र
अगणि		अग्नि
अणिदाण		अनियाण
अतिथि		अतिहि
अत्त	(आत्मन् )	×
अप्प	”	अप्प
आता	”	×
आया	”	आया
अबोधि		×
अबोहि		अबोहि
आदाण	(आदान)	×
आताण	”	आयाण
आरिय	(आर्य)	×
अज्ज	(आर्य)	अज्ज
उवट्टित		उवट्टिय
जाति		जाइ

1 संबंधित ग्रंथों के अन्त में दी गयी शब्द सूची से उद्धृत-

(ज) शुब्रिग महोदय द्वारा सम्पादित लगभग एक ही काल के दो प्राचीनतम ग्रंथों के शब्द-पाठों में अन्तर

आचारांग	इसिभासियाई	आचा.	इसिभा.
	(त)		(द)
भगवया	अरहता	आयाए	आदाय
तइय	ततिय	आयाण	आदाण
भवइ	भवति	वायं	वादं
विरइ	विरति	अइन्न-	आदिण्ण-
सव्वओ	सव्वतो	पवेइयं	वेदेंति
सेवए	सेवते		
	(प)		(त्र)
अइवाय	अतिपात	खेयन्न	खित्ततो

(झ) लगभग एक ही काल की दो रचनाओं के दो अलग-अलग सम्पादकों की अलग अलग संपादन-पद्धति

सूत्रकृतांग (आरुसडर्फ)	आचारांग (शुब्रिग)
आदाय (1.4.1.10) (द)	अइन्नायाणं(अदत्तादानम्) पृ. 3.21
विजाणेहि (1 4 2 10) (ज)	वियहित्तु (विजहाय) पृ. 3.10

(ट) मध्यवर्ती त के विषय में

(1) इसिभासियाई

शुब्रिग महोदय के संस्करण में कभी मध्यवर्ती त का लोप और कभी यथावत्

मुद्रित	पाठान्तर
(लोप)	
लिप्पए (अ. 3)	लिप्पते
असिएण (अ. 3)	असितेण
(यथावत्)	
आयाति (अ. 1)	आयाइ
आगच्छति (अ. 1)	आगच्छइ

(2) आचारांग और इसिभासियाइं में मध्यवर्ती त की स्थिति (शुब्रिंग संस्करण)

शुब्रिंग महोदय ने आचारांग (प्र. श्रु. स्कंध) की प्रतियों में कहीं कहीं पर मध्यवर्ती त यथावत् मिलते हुए भी अपने संस्करण में से उसे 'वी में पड़ी मक्खी की तरह' चुन चुन कर (मध्यवर्ती व्यंजन, विभक्ति या प्रत्यय) सभी स्थलों से बाहर निकाल फेंका है परंतु इसिभासियाइं के संस्करण में ऐसा नहीं किया है। उसमें त की यथावत् स्थिति (कुछ अध्ययनों का ही विश्लेषण किया गया है) इस प्रकार है :—

यथावत् त	घोष द	लोप य	लोप प्रतिशत %	अध्ययन नं.
21	0	10	32	1
19	0	0	0	2
15	0	14	50	29
45	0	12	21	31

(3) शुब्रिंग महोदय आचारांग के लिए ऐसा नियम बना कर चले कि जहाँ पर भी शब्द में मध्यवर्ती त मिलता है वह त श्रुति है अतः उसे निकाल दिया गया परंतु इसिभासियाइं के लिए ऐसा नियम नहीं अपनाया गया। आचारांग में अन्य मध्यवर्ती व्यंजनों का लोप तकार की तरह नहीं किया गया है, कभी कभी तो द = त भी मिलता है। यह अघोष बनाने की प्रक्रिया लोप से पहले की स्थिति है। इसिभासियाइं में द = त रखा गया है (यदि = जति 3.2) परंतु आचारांग में ऐसे पाठ (प्रतियों में उपलब्ध होते हुए भी) नहीं अपनाये गये हैं।

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि आचारांग के सम्पादन के समय व्याकरणकारों द्वारा परवर्ती प्राकृत भाषा के दिये गये लक्षणों का प्रभाव उन पर रहा है जबकि इसिभासियाइं के सम्पादन के समय उन नियमों का पालन नहीं करके उन्होंने सही स्थिति का अनुकरण किया है जो प्राचीनतालक्षी है।

(4) अन्य सम्पादकों ने भी मध्यवर्ती त का लोप अपनाया है। उदाहरण इस प्रकार हैं:—

उत्तराध्ययन (शार्पे संस्करण)	(प्रतों में पाठान्तर)
(अ) जाई 13.18 हरइ 13.26 नाभिसमेइ 13.30	जाती, हरति नाभिसमेति
(ब) संभूय 13.11	संभूत <sup>1</sup>

1. आल्सडर्फ महोदय ने यहाँ पर 'संभूत' पाठ अपनाया है।  
देखिए **Kleine Schriften**, p. 190

(ठ) प्रारंभिक दन्त्य नकार और झ के लिए किसीने नकार तो किसीने णकार अपनाया है :—

म. जै. त्रि. के संस्करणों की शब्द — सूची से उदाहरण

न = न, ण

(संपा. पू. जंबूविजयजी) आचारांग सूत्रकृतांग		(संपा.पू. पुण्यविजयजी) उत्तराध्ययन दशवैकालिक आवश्यकसूत्र <sup>1</sup>		
णगिण	—	नग	—	—
णट्ट	—	नट्ट	—	—
णर	णर, नर	नर	नर	नर
णरग	णरग	नरग	—	—

1. आवश्यक-निर्युक्ति का रचनाकाल परवर्ती होते हुए भी उसके आगमोदय समिति के संस्करण में नकार ही प्रायः मिलता है (i) नत्थि, नाणाविह, निउण, निग्गुण, निज्जुत्ती, निद्वोस, (ii) नाण, नायव्व, सन्ना, (iii) उववन्न, (iv) अन्न

पू. जंबूवि		पू. पुष्यवि.		
आचारांग	सूत्रकृतांग	उत्तराध्ययन	दशवैकालिक	आवश्यकसूत्र
णाम	णाम, नाम	नाम	—	नाम
णिकाय	—	—	—	निकाय
णिकखंत	निकखंत	निकखंत	—	—
णिगंग्थ	णिगंग्थ, निगंग्थ	निगंग्थ	निगंग्थ	निगंग्थ
णियम	—	—	नियम	—
णियाग	—	नियाग	—	—
णिव्वाण	निव्वाण	निव्वाण	—	निव्वाण
णिव्बुड	—	—	निव्बुड	—
णिसीएज्ज	—	निसीएज्ज	—	—
णील	—	नील	—	—
णो	—	—	नो	—

ज्ञ = न, ण

णाण	णाण	—	नाण	नाण
णात	—	नाय	—	—

ण्ण, = न्ण, ण्ण

णिसण्ण	—	निसण्ण	—
--------	---	--------	---

(ड) प्राचीन-शब्द रूप नहीं अपनाये गये

(1) आल्सडर्फ महोदय ने उत्तराध्ययन के (चित्तसंभूत) 13.10 को प्राचीन पद्य माना है। म. जै. वि. के संस्करण में इस पद्य में आत्मा के लिए 'आया' (13.10) पाठ लिया गया है जबकि चूर्णी

के पाठान्तर में 'अत्ता' पाठ मिल रहा है। ऐसी अवस्था में प्राचीन पाठ 'अत्ता' क्यों नहीं लिया जाना चाहिए था ?

(2) आचारांग (जैन विश्वभारती संस्करण) | पाठान्तर प्राचीन

पहू एजस्स (आचा. 1.1.7.145) | पभू

(3) इत्थीपरिन्ना (आल्सडर्फ द्वारा संपादित)<sup>1</sup>

कहीं पर प्राचीन तो कहीं पर परवर्ती शब्द—पाठ

(क)	प्राचीन पाठ स्वीकृत)	(परवर्ती पाठान्तर में)
	इत्थीवेदे (1.23)	—
	विदू वि (1.26)	विऊ वि
	वदित्ताणं (1.23)	वइत्ताणं
	ळ्हं(चूर्णी से)(1.25)	रुक्खं
(ख)	(परवर्ती पाठ स्वीकृत)	(प्राचीन पाठान्तर में)
	वेयाणुवीइ 1.19	वेदानुवीयी (चूर्णी-पाठ)
	पवाएणं 1.26	पवादेण (,,)
	मुच्चए 1.9	मुच्चती (प्राचीनतम ताड़पत्र)
	गिहाइ <sup>2</sup> 1.17	गिहाणि (पाठान्तर)

1. देखिए : Kleine Schriften, pp. 197-198

2. जबकि 1.25 में चित्तलंकारगाणि (यानि—आणि वाला पाठ)



(4) प्राचीन शब्द-रूप पाठान्तरों में

(अ) आचारांग

## शुब्रिग संस्करण

(स्वीकृत पाठ)	(पाठान्तर)
खेयन्न (16 बार)	खेत्तन्न (चूर्णी में 3 बार और जी प्रत में 5 बार)
खेदन्न (पृ. 17.21)	खेत्तन्न (चूर्णी एवं जी प्रत)
अनिच्चयं (पृ. 4.30)	अनित्तियं (चूर्णी)
चुओ (पृ. 1.7)	चुए (चूर्णी)
जीवा अणेगा (पृ. 3.18)	जीवा अणेगे (ए प्रत)
आरंभमाणा (पृ. 6.1)	आरंभमीणा (चूर्णी,
अणाइयमाणे (पृ. 12.25)	अणाइयमीणे (ए प्रत)
अन्नयरम्मि (पृ. 11.29)	अन्नयरंसि (ए, डी, जी, प्रतें और चूर्णी)

## जै. वि. भा. संस्करण

पडिसंवेदेइ 1.1.1.8	पडिसंवेदयइ (घ प्रत)
चुओ 1.1.1.2	चुते (घ प्रत)

म. जै. वि. संस्करण

स्वीकृत पाठ		पाठान्तर
रोगसमुष्पाया	1.2.2.67	रोगसमुष्पाता (सं, खं प्रत)
एगया	1.2.1.64	एगता (हे-1, 2, 3, ला, इ, प्रत)
संणिहिसंणिचयो	1.2.5.87	संणिधिसंनिचयो (चूर्णी)
अभिकंतं	1.2.1.64	अभिकंतं (शुब्रिग, हे-2, 3, ला. इ. प्रत)
पव्वहिण्	1.2.4.84	पव्वधिण्=प्रव्यथितः (खे, प्रत)
इह, जहा, तहा		इघ, जघा, तघा (चूर्णी)
		एवं प्राचीन ताड़पत्रीय पाठ —देखिए प्रस्तावना पृ. 44)
से तं संबुज्जमाणे	1.1.2.14	से तं (शीलांक, चूर्णी एवं शुब्रिग)
कूराइं कम्माइं	1.2.4.82	कूराणि कम्माणि (सं, शां, खं, खे प्रत)
अण्णयरम्मि	1.2.6.96	अण्णयरंसि (हे-1, 2, 3, ला.)
अणुपुव्वीएँ	1.8.8.230	अणुपुव्वीय (खं और चूर्णि सिवाय)
सहती	1.2.6.98	सहते (हे-1, 2, 3 ला.) सहए (शुब्रिग) सहते (जै. वि. भा.)
कप्पइ	1.1.3.27	कप्पति (सं, शां, खं, खे प्रत और चूर्णी)

## (ब) सूत्रकृतांग

## जै. वि. भारती संस्करण

स्वीकृत पाठ	पाठान्तर
महीए मञ्जम्मि (1.6.13)	महीय मञ्जम्मि (ख प्रत एवं चूर्णी)
विसोहइत्ता (1.6.17)	त्रिसोघइत्ता (चूर्णी)

## म. जै. वि. संस्करण

संबोही (1.2.1.1)	संबोधी (चूर्णी)
अह (1.4.2.16)	अघ (चूर्णी)
कयपुव्वं (1.4.2.18)	कडपुव्वं (चूर्णी)
गिहाइं (1.4.1.17)	गिहाणि (चूर्णी)
एयाइं भयाइं	एताणि भयाणि (चूर्णी)
आइट्टो (1.4.1.19)	आइट्टे (पु. प्रत)
कडेहिं गाहती (1.2.1.4) <sup>1</sup>	कडेभि गाहए (चूर्णी)

## (स) उत्तराध्ययन (म. जै. वि. संस्करण)

आया (1.3.10)

अत्ता (चूर्णी का पाठ)

(5) प्राचीन शब्द-रूपवाले पाठों को अस्वीकार करने की पद्धति का अन्य प्रकार से प्रस्तुती-करण

<sup>1</sup> यहाँ पर 'थीभि' (स्त्रीभिः) आचा. 1.2.5.84 के प्रयोग का उल्लेख करने योग्य है जो आचारांग के सभी संस्करणों में मिलता है। यह प्राचीन प्रयोग कैसे बच गया यही आश्चर्य है। इस दृष्टि से 'कडेभि' पाठ स्वीकार करने योग्य है।

(अ) अर्वाचीन प्रतों में उपलब्ध प्राचीन पाठ अस्वीकृत

पव्वहिए (म. जै. वि. आचा. 1.1.2.10)	पव्वथिए (इ प्रत)
कूराइ' कम्माइ' (शुब्रिंग, आचा. पृ. 9.8)	कूराणि कम्माणि (बी, बी <sup>1</sup> , बी <sup>2</sup> प्रत)
इहमेगेसि (म. जै. वि. आचा. 1.2.1.64)	इधमेकेसि (खं प्रत)
(जै. वि. भा. आचा. 1.2.1.4)	(च प्रत)

(ब) मूल में परवर्ती पाठ जब कि वृत्ति में प्राचीन पाठ  
आचारांग (आगमोदय संस्करण)

वियहिता (सू. 19)	विजहिता (वृत्ति पाठ पृ. 43 बी.)
------------------	---------------------------------

—(स) प्रतों में से कभी प्राचीन तो कभी परवर्ती पाठ अपनाये गये हैं :-

- (1) चुओ (जै. वि. भा. आचा 1.1.1.2) चुते (च प्रत)
- (2) णातं (,, ,, 1.1.1.4) णायं (च प्रत)

(द) तत्कालीन लोक-प्रचलित रूप छोड़ दिया गया : —

वर्त. कृदन्त-माण घायमाणे (म. जै. वि. 1.6.4.192) (जै. वि. भा. 1.6.4.91) समणुजाणमाण (जै. वि. भा.	—मीण (लोक-प्रचलित) घायमीणे (शुब्रिंग पृ. 31.3 समणुजाणमीण (शुब्रिंग, आचा. पृ. 31.4;33.9)
---	--

(ढ) उत्तरवर्ती सम्पादकों द्वारा अपने से पूर्ववर्ती संस्करणों में से प्राचीन शब्द-रूप अस्वीकृत

## 1. आचारांग

नवीन संस्करण	पूर्ववर्ती संस्करण
अवियाणओ(म.जै.वि.1.1.6.49 जै.वि.भा.) णिइए (जै. वि. भा. 1.4.1.2) बहुया (म. जै. वि. 1.2.4.82) अदक्खु (म.जै.वि. 1.2.5.88;1.9.2.70, जै. वि.भा.) कूराइं कम्माइं (म.जै.वि. 1.2.4.82, जै. वि. भा.)	अविजाणओ - शु. नितिए -शु. बहुगा-शु. आगमो,जै.वि.भा.. अदक्खु - शु. आगमो.  कूराणि कम्माणि - आगमो.

## २. सूत्रकृतांग

नवीन संस्करण	पूर्ववर्ती संस्करण
त्रिवेगमायाए (म. जै.वि. 1.4.1.10)	त्रिवेगमादाय (आल्सडर्फ)

(ण) मूल उपदेशक की भाषा परवर्तीकाल की जबकि उसके संग्रहकर्ता की भाषा में प्राचीनता

(१) आचारांग (म. जै. वि. )

(अ) संग्रहकर्ता की भाषा

तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता (सूत्र. 7)

सोच्चा भगवतो अण्णाराणं इहमेगेसि णातं भवति सूत्र. 14)

देखिए सूत्र नं. 24, 25, 35, 36, 43, 44, 51, 52,

और 58, 59 भी ।

(ब) ऊपर के उदाहरणों में मध्यवर्ती-त,-द-इत्यादि का लोप नहीं है जब कि नीचे मूल उपदेश से दिये गये उदाहरणों में इनका लोप मिल रहा है :—

कप्पइ ण कप्पइ ( सूत्र-27 ), संपयंति ( सू.-37 ) एत्थोवरए ( सूत्र-40 ) ( -त-का लोप ) ।

पवयमाणा ( सूत्र-12, 13), हिययमब्भे ( सूत्र-15 ) ( -द्-का लोप )

( २ ) इसिभासियाइं

( अ ) संग्रहकर्ता की भाषा

अरहता इसिणा बुइतां ( हरेक अध्ययन में ऐसा ही पाठ है । )  
इसमें-त-की यथावत् स्थिति है ।

( ब ) उपदेशक की मूल भाषा

अध्याय, 38

समाहिए ( समाहितः ), लुब्भई ( लुभ्यते ), जागरओ ( जागृतः )

अध्याय, 39

भावओ, कम्मओ, अज्जवसायओ

इसिभासियाइं के हरेक अध्याय में-त-कार के इस प्रकार के लोप के उदाहरण मिलते हैं ।

## उपसंहार

भाषा के इस तरह के विश्लेषणात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो रहा है कि अर्धमागधी आगम ग्रंथों के सम्पादकों की पद्धति एक समान नहीं रही है । शब्दों के मध्यवर्ती व्यंजन कभी यथावत् हैं तो कभी घोष कर दिये गये हैं और बहुधा लोप ( महाप्राण का ह कार ) कर दिया गया है । विभक्तियों और प्रत्ययों में कभी प्राचीनता है तो कभी पर-

वर्तीकाल का प्रभाव है। प्रश्न यह है कि अर्धमागधी एक प्राचीन प्राकृत भाषा है जो महाराष्ट्री प्राकृत से बहुत पुरानी है। प्राचीन अर्धमागधी आगम साहित्य का सर्जन भारत के पूर्वी क्षेत्र में हुआ है और आगमों की प्रथम वाचना का समय अशोक के शिलालेखों से पूर्ववर्ती है। इन सब मुद्दों को ध्यान में रखते हुए अर्धमागधी भाषा का महाराष्ट्रीकरण हुआ है यह बिना किसी शंका के स्वीकार करना पड़ेगा। परंतु भाषा के विकास की दृष्टि से यदि प्राचीन पाठ मिलते हो तो उन्हें क्यों नहीं अपनाया जाना चाहिए। ग्रंथों की प्रतियों और चूर्णियों में प्राचीन पाठ मिलते हैं अतः प्राचीनता की सुरक्षा के लिए उन पाठों को अपनाया जाना चाहिए यही इस अध्ययन का निष्कर्ष है।

## २. अर्धमागधी में प्राचीन भाषाकीय तत्त्व

जैन अर्धमागधी आगम साहित्य<sup>1</sup> के प्राचीन ग्रंथों में कुछ ऐसे भाषाकीय प्रयोग मिलते हैं जो परवर्ती भाषा के प्रभाव में न आकर किसी न किसी प्रकार बच गये हैं और अपनी प्राचीनता को सुरक्षित रखे हुए हैं। यदि ऐसे प्रयोगों<sup>2</sup> की परवर्ती प्राकृत भाषा के रूपों के साथ तुलना की जाय तो स्पष्ट होगा कि ये ही बचे हुए प्रयोग अर्धमागधी की प्राचीनता को (अन्य परवर्ती प्राकृतों, जैसे — शौरसेनी, महाराष्ट्री से) सिद्ध करते हैं और कभी कभी वे पालि भाषा के समान हो ऐसा प्रतीत हुए बिना नहीं रहता।

(क) मध्यवर्ती व्यंजनों के लोप के बदले में घोषीकरण

मध्यवर्ती 'क' के घोषीकरण के तो अनेक प्रयोग अर्धमागधी में मिलते ही हैं। 'त' और 'थ' के स्थान पर उनके घोष 'द' और 'ध' के प्रयोग भी अर्धमागधी में कहीं कहीं पर बच गये हैं, जैसे—

- (1) सरपादगं (शरपातकम्), सूत्रकृ. 1.4.2.13. (आल्सडर्फ)<sup>3</sup>
- (2) भविदब्बं (भवितव्यम्), इसिमासियाइं 3.1 (शुब्रिंग)
- (3) तधा, जधा, कधं, सव्वधा (तथा, यथा कथम्, सर्वथा) के लिए देखिए, इसिमासियाइं 3.7,8; 25.14; 35.12; 38.29; 40.10; 45.25, रघ (रथ) (24.3)।

1. किसी तरह के अन्य संस्करण के उल्लेख के अभाव में सभी उदाहरण महावीर जैन विद्यालय, बम्बई से प्रकाशित आगम-ग्रंथों से दिये गये हैं।
2. परवर्ती काल के प्राकृत साहित्य में अमुक अमुक प्राचीन (विभक्ति और प्रत्यय वाले) रूप नये प्रयोगों के अनुपात में घटते जाते हैं और कभी कभी तो सर्वथा लुप्त हो जाते हैं तथा उनका स्थान अन्य नये नये रूप ले लेते हैं।
3. **Kleine Schriften : Ludwig Alsdorf, Wiesbaden, 1974 A. D. p. 200**



- (4) अध (अथ) इत्थीपरिन्ना, सूत्रकृ. 1.4.1.23 (पुण्यविजयजी )
- (5) आख्या घातु के लिए 'आघ' वाले रूप जैसे कि आघं, आघवणा, आघविज्जन्ति, आघवित्ते, आघविय, आघवेमाण, इत्यादि जो प्रयोग अर्धमागधी ग्रंथों में मिलते हैं वे भी 'ख = घ' अर्थात् घोषीकरण के ही उदाहरण हैं ( पिशल 202, 551, 85, 88, 350, 382, इत्यादि ) ।
- (6) उसी प्रकार पू. हेमचन्द्र द्वारा दिये गये 'क = ग' के सिवाय 'च = ज'(8.1.177) पिसाजी(पिशाची), 'थ = घ' (8.1.186) (पिधं, पुधं, (पृथक्) और 'फ = भ' (8 1 236 रेफ = रेभ) भी प्राकृत भाषा के प्राचीन प्रयोग प्रतीत होते हैं ।
- (7) अर्धमागधी का काल अन्य प्राकृतों से प्राचीन है अतः 'त = द' और 'थ = घ' का मिलना भाषाकीय विकास की दृष्टि से अनुपयुक्त नहीं है । इस विषय में श्रीमती नीति डोल्ची<sup>1</sup> का ऐसा कहना बिल्कुल उचित लगता है कि पू. हेमचन्द्राचार्य ने जब सामान्य प्राकृत में त्तकार को द में बदलने का निषेध<sup>2</sup> कर दिया तब से हस्तप्रतों में से ऐसे प्रयोग स्वतः निकल गये । इस बदली हुई पद्धति का ज्वलन्त उदाहरण है महावीर जैन विद्यालय द्वारा प्रकाशित आचारांग का संस्करण । संपादक पू. जंबूविजयजीने उसकी प्रस्तावना (पृ. 44) में स्पष्ट कर दिया है कि 'जघा' और 'तघा' के बदले में उन्होंने जहा (यथा) और तहा (तथा) रूप अपनाये हैं ।

1. The Prakrit Grammarians (1972) p. 159 f.n. 4

2. प्राकृत व्याकरण, 8.1 209

(ख) संयुक्त व्यंजनों के समीकरण के बदले में स्वरभक्ति स्वरभक्ति द्वारा अमुक अमुक संयुक्त व्यंजनों को अलग (सामान्य) करने की जो प्रवृत्ति है वह समीकरण से पूर्ववर्ती मानी जाती है। पिशल के अनुसार (132,133) अर्धमागधी भाषा में समीकरण के स्थान पर स्वरभक्ति अधिक मात्रा में पायी जाती है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—आचारांग<sup>3</sup> में प्रयुक्त शब्द :—

अग्नि = अगणि (सूत्र, 34, 37, 39, 211, 212)

उष्ण = उसिण (सूत्र, 101)

तूष्णीक = तुसिणिअ (सूत्र, 288)

पण्यशाला = पणिशाला (सूत्र, 278)

वैयावृत्य = वेयावडिय (सूत्र, 199, 207, 219, 227)।

पिशल द्वारा दिये गये अन्य उदाहरण :— कसिण (कृत्स्न), पसिण (प्रश्न), निगिण (नग्न), दीहर (दीर्घ), इत्यादि। इनमें नित्य = गितिय, आर्य = अरिय, पर्याय = परियाय आदि और भी जोड़े जा सकते हैं। इसिमा. से कारियं (कार्यम्) 11.3, अगणिकाए 10, पृ. 23.3 इत्यादि।

(ग) आत्मन् के लिए अत्ता के प्रयोग

‘आत्मन्’ शब्द के लिए ‘अत्ता’, ‘आता’, ‘आया’ और ‘अप्पा’ ये चार रूप मिलते हैं। इनमें से पालि और अशोक के शिलालेखों<sup>4</sup> में सिर्फ ‘अत्ता’ शब्द मिलता है। अतः यह रूप सबसे प्राचीन है। अशोक के पच्छिमी शिलालेखों में ‘अत्ता’ के लिए ‘अत्पा’ शब्द मिलता है जो परवर्तीकाल में अप्पा में बदल गया और यही अधिक प्रचलन में रहा। ‘अत्ता’ से ही ‘आता’ और उससे ‘आया’

3. म. जै. वि. स स्करण

4. अत- (आत्म-), अतन, अतना (आत्मना),

अतने (आत्मनः), अतान (आत्मानम्)

शब्द विकसित हुए हैं जो परवर्तीकाल के शब्द हैं, जिनमें 'आया' अन्तिम स्तर का शब्द है ।

प्राचीनतम प्राकृत ग्रंथ **आचारांग** के प्रथम श्रुत स्कंध में अत्ता ही अधिक प्रमाण में और आता बहुत कम प्रमाण में मिलता है जब कि उसी ग्रंथ के द्वितीय श्रुतस्कंध में अप्पा अधिक मात्रा में मिलता है, उसमें अत्ता, आता और आया तो नहीं के समान हैं ।

उदाहरण:—

आचा. प्र. श्रु. स्कंध — अत्ताणं, अत्तसमाहिते, अत्तत्ताए, आततो, आतवं,  
आतावादी ।

आचा. द्वि. श्रु. स्कंध — अप्पणो, अप्पाणं, अप्पणा, अप्पाणेणं ।

(घ) दन्त्य नकारयुक्त संयुक्त व्यंजन

वह्नि (वह्निमारुयसंयोगा), इसिभासियाई 9.24 (शुब्रिग) ।

परवर्ती काल में यही शब्द वणिह के रूप में प्रयुक्त हुआ है ।

अन्य उदाहरण :—

अन्नतरी (अन्यतरी) आचा. 1.1.1.1; अन्न (अन्य), अन्नाय (अन्याय), छन्न, छिन्न, पन्नग, मन्ने (मन्ये), सूत्रकृ. । इन प्रयोगों में 'ण' के बदले 'न' मिलता है । यह प्राचीनता का द्योतक है ।

(च) प्रथम पुरुष सर्वनाम के प्रथमा बहुवचन का रूप 'वयं'

प्र. पु. प्रथमा व. व. का प्रचलित रूप अम्हे है । परंतु अर्धमागधी के प्राचीन अंशों में 'अम्हे' के बदले में वयं रूप भी बच गया है । उदाहरण :—

वयं पुण एवमाचिक्खामो (आचा. 1.4.2.138)

जहिं वयं सव्वजणस्स वेस्सा (उत्तरा. (13.18 चित्तसंभूत) ।

तेसिं पि वयं लज्जामो (आचा. 1.8.8.203) ।

पिशल (419) महोदय ने 'वयं' रूप के आचारांग से 7 प्रयोग, सूत्रकृतांग से 6 प्रयोग, उत्तराध्ययन से 3 प्रयोग तथा भगवतीसूत्र और दशवैकालिक से भी ऐसे प्रयोगों का उल्लेख किया है ।

(छ) व्यंजनांत शब्दों के तृतीया ए. व. के कुछ प्राचीन प्रयोग

पिशल महोदय ने (364,396,407,411,413) तृतीया ए. व. के अनेक प्राचीन प्रयोगों का अर्धमागधी से उल्लेख किया है । वे इस प्रकार हैं :— वाया = वाचा (उत्तरा; दशवै.) कायगिरा (दशवै.) । 'वाया' का प्रयोग सूत्रकृतांग में भी मिलता है (1.4.1.24) । अन्य उदाहरण :—

विउसा, तेयसा, चेषसा, जससा, सिरसा, (कायसा, जोगसा, गियमसा, पयोगसा, बलसा, भयसा आदि भी) और मतिमया, महया, जाणया इत्यादि । ये प्रयोग आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, स्थानांग, भगवतीसूत्र और औपपातिक सूत्र से उद्धृत किये गये हैं । इनमें सूत्रकृतांग का प्रयोग 'आयसा' (आत्मना 1.4.1.6 आल्सडर्फ) और आतसा (म. जै. वि.) भी जोड़ा जा सकता है । इसिभासियाइं से उदाहरण:—चक्खुसा 35.23, तेजसा 37, पृ. 63.24 इत्यादि ।

(ज) तृतीया बहुवचन की विभक्ति-भि वाले रूप

अर्धमागधी में इस विभक्ति वाले कुछ अवशिष्ट प्रयोग इस प्रकार मिलते हैं:—

थीमि (स्त्रीभिः), आचा. 1.2.4.84; पसुभि (पशुभिः), उत्तराध्ययन 9.49; संज्ञमेभि के लिए देखिए इसिभासियाइं, शुत्रिंग, पृ. 128; कडेभि (सूत्रकृ. चूर्णी के प्रयोग) के लिए देखिए पीछे पृ. 30, (पाद--टिप्पण नं 1) ।

(झ) चतुर्थी एकवचन के—आय विभक्ति वाले कुछ रूप

( j ) इसिभा.—वाहिकखायाय, मोहकखायाय, 38.7, ज्ञाणाय, 38.15, कम्मादाणाय, 38.16, मोहकखायाय, 24.38

( ii ) सूत्रकृतांग—आतहिताय (म. जै. वि.) 1.4.1.16,

अण्णपायाय (अन्नपाकाय) म. जै. वि. पृ. 50 पर उद्धृत चूर्णी का पाठान्तर (सामान्यतः इसके स्थान पर—आए विभक्ति के प्रयोग ही अधिकतर मिलते हैं । )

(ट) क्रियाविशेषण के रूप में पंचमी एकवचन के प्राचीन प्रयोग

पदिसो:—तसंति पाणा पदिसो दिसासु य (आचा. 1.1.6.49 ), पिशल महोदय (413) के अनुसार अन्य प्रयोग:— दिसो दिसं (आचा. 2.16.6 ), दिसो दिसिं (प्रश्नव्याकरण, उत्तराध्ययन, नायाधम्मकहाओ) पओगसो (इसिभा. 24.37). इनमें बहुसो (आचा. 1.9.4.17), सब्वसो (आचा. 1.9.1.12,16,18) इत्यादि भी जोड़े जा सकते हैं ।

पालि सुत्तनिपात में भी ऐसे प्रयोग मिलते हैं :—

पुथुसो 50.14,15 सब्वसो 53.6,16.

(ठ) षष्ठी एकवचन के रूप

(1) वर्तमान कृदन्त:—

करओ (कुर्वतः) आचा. 1.1.1.4; अविघाणओ, (पाठान्तर, अविजानतो = अविजानतः, आचा. 1.1.6.49 (और देखो सूत्र नं. 144, 148,149,154 ) । पिशल महोदय (396) द्वारा दिये गये अन्य रूप:—

विहरओ, अकुव्वओ, हणओ, कित्तयओ ।

इसिभा. 16. पृ. 33.20 से विप्पवहतो ।

(2) व्यंजनांत शब्दों के रूप (षष्ठी ए. व. ) :—

धीमतो (धीमतः) इसिभा. 995, धीइमओ, महओ ( महतः )  
भगवओ ( भगवतः ); (पिशल-396), जसस्सिणो (पिशल-405) ।

(ड) सप्तमी एकवचन की प्राचीन विभक्ति—**म्हिं** और—**म्हि**

(1) '**म्हिं**' और '**म्हि**' विभक्तियों का विकास 'स्मिन्' विभक्ति में से हुआ है । अशोक के शिलालेखों में '**म्हि**' विभक्ति पच्छिम के शिलालेखों में मिलती है ।—'**म्हि**' में से ही बाद में '**म्मि**' विभक्ति का विकास हुआ है । पालि भाषा में सप्तमी एकवचन की विभक्तियाँ '**स्मिं**' और '**म्हि**' हैं जिन्हें यहाँ पर ध्यान में रखना चाहिए ।

अर्धमागधी के ग्रंथों में प्राचीन विभक्ति '**म्हि**' और '**म्हिं**' के बचे हुए प्रयोग :—

इमम्हि (व्यवहार सूत्र 7. 22,2<sup>3</sup>),

कम्हिं (उत्तराध्ययन (152. आल्सडर्फ)<sup>1</sup>)

(2) सप्तमी एकवचन की प्राचीन विभक्ति '**स्सिं**'

अर्धमागधी में स. ए. व. की प्रचलित विभक्ति **अंसि** है, जैसे—**लोगंसि**, **नयरंसि**, **अगिंसि**, **वाउंसि**, परंतु '**स्सिं**' विभक्ति शायद ही मिलती है । वैसे—**स्सिं** ही—**अंसि** का पूर्व रूप है और '**स्सिं**' का विकास 'स्मिन्' में से हुआ है । अशोक के शिलालेखों में इसी—'**स्सिं**' के लेखन का स्वरूप—'**स्सिं**' मिलता है । प्राकृत व्याकरणकारों ने सर्वनाम के लिए—'**स्सिं**' विभक्ति का आदेश दिया है, परंतु नाम—रूपों

1. Kleine Schriften, (1974 A. D.), p. 232.

के लिए इसका उल्लेख नहीं है।<sup>1</sup> यह विभक्ति नाम-रूपों के प्राचीन प्रयोगों में रही होगी परंतु बाद में 'अंसि' विभक्ति ही सर्वत्र प्रचलित हो गयी। —'स्सिं' वाले प्राचीन प्रयोग शायद ही कहीं पर बच पाये हैं। उसका एक उदाहरण आचारांग की एक हस्तप्रत में मिलता है जिसे मुद्रित ग्रंथ में पाठान्तर के रूप में रखा गया है (लोगस्सिं, आचा. 1.1.19 पाठान्तर, म. जै. वि.)। इस-स्सिं विभक्ति के प्रयोग साहित्य से अदृश्य हो गये हैं ऐसा लगता है क्योंकि व्याकरणकारों ने भी नाम-रूपों के लिए 'स्सिं' विभक्ति का उल्लेख नहीं किया है।

(३) रात्रि का स. ए. व. का रूप राओ (रात्रौ)

रात्री का प्रचलित स.ए.व. का रूप 'रत्तीए' है परंतु 'रातो' और 'राओ' (रात्रौ) बचे हुए प्राचीन रूप भी मिलते हैं<sup>2</sup> :—

दिया य रातो य (आचा. सूत्र, 189.190 म. जै. वि.)

अहो य राओ य (आचा. सूत्र, 63,73)

इसके अलावा और भी देखिए सूत्र नं. 133. 282, 291, इत्यादि। पिशाल महोदय ने (386) सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, इत्यादि से ऐसे उदाहरण दिये हैं।

(ढ) कुछ और प्राचीन रूप

(i) वेदवी (वेदवित्) प्र.ए.व. (आचा. सूत्र, 145,163 174, 196, कालवेयवी (इसिभा. 22.12)

1. पू. हेमचन्द्र के व्याकरण में — 'अंसि' विभक्ति का उल्लेख ही नहीं है (8.3.11; 8.3.59)। इसके अलावा और भी कितने ही अर्धमागधी भाषा के प्राचीन प्रयोगों का उल्लेख नहीं है। पं. बेचरदासजी दोशी का यह मन्तव्य सर्वथा उचित लगता है कि पू. हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण अर्धमागधी के सभी प्रयोगों को नहीं समझ सकता है क्योंकि उन्होंने आगमों के सभी प्रयोगों पर दृष्टिपात नहीं किया था। देखिए : प्राकृत मार्गोपदेशिका, पृ 31, चौथी आवृत्ति, 1947 A.D.

2. सूत्रकृतांग (1.1.1.8) में एक प्राचीन रूप 'तेम्भो' (तेम्भ्यः, पं.ब.ब.) बच गया है।

- (ii) जन्तवो, साहवो (प्र. ब. व; पिशल, 380)
- (iii) दुम्मणा, सुमणा (प्र. ए. व; पिशल, 408)
- (iv) अतिविज्जं (अतिद्विान् ) आचा. सूत्र, 112, 115, सूत्रक. पिशल, 299)
- (v) तमसि (स. ए. व. पिशल, 408)
- (vi) णिपतन्ति (इसिभा. 10 पृ. 23 9 ); जबकि चाट्ट रूप होगा णि(नि)वडंति, वैसे आचारांग में णिवर्तिसु रूप (सूत्र 295,297) मिलता है ।
- (vii) विधीयते (इसिभा. 22.14)
- (viii) धित् (इसिभा. 22.1)
- (ix) दित्ततेजसं (द्वि. ए. व., इसिभा. 39 1)
- (ण) पालि के समान स्त्री. ए. व. की विभक्तियाँ – ‘य’ और – ‘या’ और अशोक के शिलालेखों के समान – ‘ये’ विभक्ति

स्त्रीलिंगी एकवचन की विभक्तियों ‘य’ और ‘या’ का प्राकृत व्याकरणकारों ने उल्लेख नहीं किया है अतः प्राचीन साहित्य में इनका प्रयोग यदि होगा भी तो ऐसी विभक्तियाँ परवर्तीकाल में स्वतः निकल गयी होगी । वैसे ये विभक्तियाँ प्राचीन हैं और अशोक के शिलालेखों में तथा पालि में मिलती हैं । अर्धमागधी में ऐसी विभक्तियाँ हो ही नहीं सकती ऐसा कहना उपयुक्त नहीं जान पड़ता क्योंकि

1. इनके स्थान पर ‘अ,’ ‘आ,’ और ‘इ’ विभक्तियों का व्याकरणकारों ने उल्लेख किया है । वास्तव में ये विभक्तियाँ ‘य’ और ‘या’ से ही विकसित हुई हैं । प्राकृत व्याकरण लिखे गये तब तक –‘य’-और-‘या’-ध्वनियाँ –‘अ’ – ‘आ’ में बदल गयी होगी, अतः व्याकरणकारों ने उनका उल्लेख नहीं किया है । इसका नतीजा यह हुआ कि प्राचीन साहित्य में ‘य’ और ‘या’ के जो भी प्रयोग होंगे वे सब —‘अ’ और –‘आ’ में बदल दिये गये होंगे ।



मूल अर्धमागधी और पालि साहित्य के सृजन का स्थल एवं समय तो एक ही रहा है। यदि ऐसी विभक्तियों के कुछ बचे हुए प्रयोग हमें अर्धमागधी में मिलते हैं तो वे प्राचीन परंपरा के ही द्योतक हैं।

उदाहरण :- अणुपुब्बीय (आचा. 1.8.8.230 तृतीया ए. व.)  
इसिभासियाइं से :- मुच्छाय (32 ष. ए. व.) अरणीय (अरण्याम्)  
22, पृ. 43.9; पुढवीय (पुढिव्याम्) 22 पृ. 43.8

इसी प्रकार आचारांग का एक प्रयोग 'सहसम्मुइयाए'—वास्तव में 'सहसम्मुइया' 1.1.1.2 होना चाहिए जैसा कि उत्तराध्ययन (28. 17) और आचा. की निर्युक्ति गाथा 65 और 67 में तथा आचा. चूर्णी में पृ. 12 पर मिलता है। इस शब्द का दूसरा रूप सहसम्मुइए भी मिलता है।

इसिभासियाइं में—'ये' विभक्ति वाले निम्न प्रकार के प्रयोग मिलते हैं:—

सुभासियाए भासाये 33.4 । इसमें 'ए' के बदले में 'ये' तृ. ए. व. की विभक्ति का प्रयोग है और यह 'ये' अशोक के शिलालेखों की विभक्ति के बिल्कुल समान है। इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण है :—  
पाहुप्पभायाए रयणीये—इसिभा. 37, पृ. 3.23 स.ए.व. । आचारांगचूर्णी में भी—गाहाये चैव भण्णति अंडयादि (पृ. 35.11, स. ए. व.) का प्रयोग मिलता है।

### (त) भूतकाल के प्राचीन प्रत्ययोंवाले प्रयोग

अर्धमागधी में भूतकाल के लिए निम्न प्रकार के प्राचीन प्रत्यय मिलते हैं जो परवर्ती साहित्य में नहीं मिलते हैं। ये तृतीय पुरुष एकवचन और बहुवचन के प्रत्यय हैं।

प्रत्यय : -सि,-सी;-इं,-ईं;-त्था,-इत्था;-उ,-ऊ;-स्सं, - अंसु और-इंसु । इनके लिए देखिए पिशल (515-518) । पालि साहित्य और अशोक के शिलालेखों से भी इन प्रत्ययों की प्राचीनता सिद्ध होती है ।

**अर्धमागधी साहित्य से उदाहरण :—**

(1) अकासी (आचा. 1.9.4.314), रिक्कासि (आचा. 1.9.1.257) अहेसि (आचा. 1.9.1.298) ।

पकासी, गासी (इसिभासियाई, 31 पृ. 69.10)

(2) अचारी (आचा. 1.9.3.294);

भुर्वि (इसिभा. 31 पृ. 69.18) [तुलना कीजिए सुत्तनिपात के अभिरिभि 63.2 इत्यादि से] ।

(3) 'इत्था' एक बहु प्रचलित प्रत्यय है ।

कुब्बित्था (आचा. 1.9.4.321), एसित्था (आचा. 318)

(4) आहु (आहुः) आचा. सूत्र 140, सूत्रकृ. 1.2.17,20)

अभू (अभूत्) उत्तरा. (पिशल 516), अदक्खु, अदक्खू, अइक्खु, अइक्खू (आचा. सूत्र 88,151,152) ।

(5) अकरिस्सं (आचा. सूत्र, 4, पिशल 516), पुच्छिस्सं'हं (सूत्रकृ. 1.5.1)

(6) आहंसु (सूत्रकृ. 1.4.1.28), अभविसु (सूत्रकृ. 1.15.25), हिंसिसु (आचा. सूत्र 52,256,295), हंसिसु, गिवरिसु, विहारिसु (आचा. सूत्र 295,297) ।

**(थ) त्रिधिलिंग के लिए प्राचीन प्रत्ययोंवाले प्रयोग**

-ज्ज, -ज्जा, -इज्ज और-इज्जा त्रिधिलिंग के लिए प्राकृत के चाट्ट प्रत्यय हैं परंतु अर्धमागधी के प्राचीन अंशों में त्रिधिलिंग के प्राचीन

प्रत्ययोंवाले प्रयोग बच पाये हैं वे इस प्रकार दर्शाये जा सकते हैं ।  
( देखिए पिशाल 462 ) :—

(1) -ए प्रत्यय

गिञ्जे (गृध्येत्), हरिसे (हर्षेत्), कुञ्जे (कुध्येत्), कण्डूयए (कण्डूययेत्), किणे (कृणेत्), चरे (चरेत्) (आचारांग) । लभे (लभेत्), चिट्ठे (तिष्ठेत्), उवचिट्ठे (उपतिष्ठेत्) (उत्तराध्ययन) । अच्छे (आच्छिन्धात्) अब्भे (आभिन्धात्) (आचारांग, पिशाल — 466) ।

ऐसे ही प्राचीन प्रयोग सुत्तनिपात (पालि) में भी मिलते हैं :—  
तिट्ठे 54.14, गच्छे 54.14, अभिनन्दे 54.18; सिक्खे 52.19, इच्छे 47.1, इत्यादि ।

(2) -या प्रत्यय ( देखो पिशाल 462, 464, 465 ) ।

सिया ( स्यात् ), असिया ( अस्यात् ), बूया ( ब्रूयात् ) हणिया ( हन्यात् ), सका ( शक्यात् ), चक्किया ( \*चक्यात् ) लब्भा ( \*लभ्यात् ), इत्यादि ।

पमज्जिया ( प्रमाजयेत् ) आचा, 1.9.1. 273 और सिया ( इसिभा. 39.3 ) ।

(3) -एय प्रत्यय

वत्तेय ( वतेंत ) इसिभा, 24.11 [ इस प्राचीन प्रत्यय के विषय में पिशाल ( 459 ) महोदय का यह कहना है कि ऐसा कोई पुराना प्रत्यय प्रचलित नहीं था । परंतु इसिभा, में इसकी एकल दोकल उपलब्धि यह सिद्ध करती है कि ऐसे प्रयोग प्राचीन काल की प्रतीतों में रहे होंगे परंतु परवर्ती काल में भाषा की प्राचीनता के ज्ञान के अभाव में लेहियों के हाथ ऐसे प्रयोग निकल गये होंगे ।

(द) **संबंधक भूतकृदन्त** के प्राचीन रूप

(1) संबंधक भूतकृदन्त के लिए मूल धातु में प्राकृत का प्रत्यय जोड़े बिना संस्कृत कृदन्तों ( मात्र ध्वनि-परिवर्तन ) से बने हुए प्राचीन रूप इस प्रकार दर्शाये जा सकते हैं :—

अभिकंख ( अभिकांक्ष्य ), निक्खम्म ( निष्क्रम्य ), पक्खिप्प ( प्रक्षिप्य ), पविस्स ( प्रविश्य ) उवलब्भ ( उपलभ्य ), परिच्चज्ज ( परित्यज्य ), ( देखिए—पिशल ) ।

परवर्ती प्राकृत में इस कृदन्त के रूप—इअ प्रत्यय के साथ मिलते हैं और प्राचीन रूपों का प्रचलन बन्द हो जाता है, जैसे :— लंभिअ, पविसिअ, परिच्चइअ, इत्यादि ।

ऊपर जैसे प्राचीन प्रयोग 'सुत्तनिपात' में भी मिलते हैं :—

आरब्भ—54 18, परक्कम्म—54.12; इत्यादि । गाइगर महोदय के अनुसार कुछ और रूप :—आपुच्छ, निक्खम्म, परिच्चज्ज इत्यादि । अर्धमामधी के इन प्राचीन रूपों में कुछ और रूप जोड़े जा सकते हैं :— पप्प ( प्राप्य ) आचा. 1.2.3.79, इसिभा. अ. 31 और 45, किच्चा ( कृत्वा ), इसिभा. 31, जिच्चा ( जित्वा ) इसिभा. 29, इत्यादि । इनके परवर्ती काल के रूप—पात्रिय, पाविऊण, जिणिय, जिणिऊण, करिअ, करेत्ता, इत्यादि मिलेंगे ।

(2) -त्ताणं, -च्चा, -च्चाणं, -याण और -याणं सं. भू. कृ. के प्राचीन प्रत्यय माने गये हैं जो आचा., सूत्रकृ., उत्तरा., दशवै., आदि सूत्रों में मिलते हैं ( देखिए—पिशल, 583, 587 और 592 ) । इसिभासियाई से कुछ उदाहरण :—

( किच्चा 35.1, 39.2, 41.1 ), आणच्चा ( आज्ञाय ) 11, पृ. 23.20, गिराकिच्चा 11.5, णच्चा 11, पृ. 23.20; 30.8,

साहइत्ताणं. 11.4 ( साधयित्वा ), जिणित्ताणं 29.16, कसित्ताणं 32.4, इत्यादि । इन प्राकृत प्रत्ययों के अनुरूप-त्वान प्रत्यय वाले पालि प्रयोगों के लिए ( जत्वान, कत्वान, छेत्वान ) और-यान तथा -यानं प्रत्ययों के लिए देखिए:-गाइगर 209, 214 तथा अशोक के शिलालेखों में प्रयुक्त-च्च एवं -च्य प्रत्ययों के लिए देखिए :-मेहेण्डले, पृ. 45 [ आगाच (आगत्य), अधिगिच्य (अधिकृत्य) ] ।

( 3 ) दृष्ट्वा के प्राचीन प्रयोग

दिस्स ( इसिमा. 28.22 ) और पिशाल. 334 के अनुसार 'दिस्सा' ( सूत्रकृ., विवाहप. ), पदिस्सा ( विवाहप. ), दिस्सं (उत्तरा.), इत्यादि जो पालि के 'दिस्वा' के समान हैं ।

( ध ) वर्तमान कृदन्त के प्राचीन प्रयोग

( 1 ) अन् = 'अं' प्रत्ययवाले प्रयोग

अकुब्बं (अकुर्वन्) आचा. 19.1.271, जाणं ( जानन् ) इसिमा. 41 & पालि सुत्तनिपात में भी ऐसे प्रयोग मिलते हैं :-

अकुब्बं ( 47.10, 51.18 ) पस्सं ( 51.15 )

( 2 ) —'आण' प्रत्यय

पिशाल के अनुसार यह प्रत्यय कभी कभी ही मिलता है (562) ।

बुयाबुयाणा = ब्रुवन्तः ( सूत्रकृ. 1.7.390 )

सुत्तनिपात में भी ऐसे प्रयोग मिलते हैं :-

वदानं 42.2, वदानो 50.11, पजानं 54.9, परिब्बसाना 51.1. इत्यादि ।

( न ) हेत्वर्थक कृदन्त का प्राचीन प्रत्यय —'त्तए' (—इत्तए)

यह प्रत्यय अर्धमागधी साहित्य तक ही सीमित है जो वैदिक —'त्वे' का ध्वन्यात्मक परिवर्तन है, ( देखिए, पिशाल—598 ) ।

पालि और अशोक के शिलालेखों में यही प्रत्यय 'तवे' के रूप में मिलता है ।

( देखिए, गाइगर 204.1 और मेहेण्डले, पृ. 45 ) ।

आचारांग से उदाहरण :—तरित्तए, गमित्तए ( 1.2.3 6 ), ठाइत्तए ( 2.8.1 ), कहइत्तए, पूरइत्तए ( 1.3.2.2 ), धरित्तए ( 1.7.7.1 ) ।

पिशल महोदय ( 577 ) के अनुसार यह —'त्तए' प्रत्यय अर्धमागधी में बहु प्रचलित है । पिशल ने ( 578 ) ऐसे ही कुछ रूपों की वैदिक प्रयोगोंके साथ तुलना की है :

जैसे—पायए ( पातत्रै ), वत्थए ( वस्तवे ) ।

( प ) एक वैदिक क्रियाविशेषण : अणुत्रीयि, अणुत्रियि, अणुवीइ देखिए : आचा. सूत्र, 26, 140, 196, 197

पिशल महोदय ( 593 ) के अनुसार 'अनुवीति' के ही ये सब रूप हैं जो सम्बन्धक भूतकृदन्त नहीं है परंतु क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त है । इसे 'सावधानीपूर्वक' इस अर्थ में लेना चाहिए जैसा कि वैदिक प्रयोग में पाया जाता है ।

( फ ) अमुक धातुओं के प्राचीन रूपों के प्रयोग

( 1 ) 'भू' = भव, भो, हव, हो, हु

आचारांग और सूत्रकृतांग जैसे प्राचीन ग्रन्थों<sup>1</sup> में 'भू' धातु के लिए 'भव' और 'भो' का प्रयोग बहुत अधिक मात्रा में मिलता है जबकि 'हव, हो, हु' का प्रयोग बहुत कम मात्रा में मिलता है । परवर्ती ग्रन्थों में 'भव, भो' का प्रयोग घटता जाता है जबकि 'हव, हो, हु' के प्रयोग बढ़ते जाते हैं ।

पालि के सुत्तनिपात जैसे प्राचीन ग्रन्थ के अट्टकवग्ग में भू, भव, भो के प्रयोग 9 बार मिलते हैं जब कि हो, हु के 22 प्रयोग

1. देखिए ग्रंथों की शब्दसूचियाँ (म. जै. वि.)

मिलते हैं। अशोक के शिलालेखों में भी 'भू, भो, भव' के प्रयोग 25% और 'हु, हव' के प्रयोग 75% मिलते हैं।

अन्य प्राचीन साहित्य और अभिलेखों की अपेक्षा आचारांग में 'भू' धातु के 'भव' वाले प्राचीन प्रयोग अधिक मात्रा में मिलते हैं। इस प्रमाण के आधार—स्वरूप प्रस्तुत ग्रंथ की प्राचीनता का अंदाज लगाया जा सकता है।

## (2) ब्रू धातु के प्रयोग

ब्रू के रूप प्राचीन ग्रन्थों में ही मिलते हैं, परवर्ती साहित्य में इनका प्रयोग नहीं मिलता है। उदाहरण :<sup>1</sup>

बेमि, बूया, बूहि, बेन्ति, बुइय, बवीति, बुइत, बुइताओ, बुया-बुयाणा, इत्यादि।

इसिभासियाइं के प्रयोग :—

त्ति बेमि और अरहता इसिणा बुइतं (हरेक अध्याय में प्रयुक्त)।

## (3) प्राप् धातु के प्राचीन रूप<sup>2</sup> (पिशल 504 के अनुसार)

(अ) पप्पोइ, पप्पोति, पप्पुति (प्राप्नेति) उत्तरा.

(आ) पाउणइ (\* पापुणाति, \* पापुणति)

(इ) व्याख्याप्रज्ञप्ति, औपपातिकसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र।

पाउणति (इसिभासियाइं 33.8, सूत्रक. सूत्र, 714),

पाउणति (सूत्रक. सूत्र 517)

(ई) पाउंणिस्सामि (आचा. सूत्र, 187)

(उ) पप्प (प्राप्य) आचा. सूत्र, 79, इसिभा अ. 31

1. देखिए: आचारांग और सूत्रकृतांग की शब्दसूचियाँ (म. जं. वि.)

2. इस उपविभाग नं. (3) और (4) में पिशल के प्राकृत व्याकरण से उदाहरण दिये गये हैं।

( ऊ ) पाउणेज्जा ( आचा. 2.473 )

( ए ) पाउणित्तए ( आचा. 2.490 )

( 4 ) कृ धातु के प्राचीन रूप<sup>1</sup>

( i ) ( अ ) कुरुते ( इसिभासियाइं 29.17 ) ( \* कुर्वते—कर्तृ प्रयोग )  
पिशल के व्याकरण में यह रूप नहीं मिलता है । पालि  
सुत्तनिपात में ऐसे प्रयोग मिलते हैं :

43.1,4,56; 49.6 इत्यादि ( देखो गाइगर-149 ) ।

( आ ) कज्जते,<sup>2</sup> कज्जति, कज्जति

कज्जते ( इसिभासियाइं 34.3 ) = ( \* कर्षते : कर्मणि प्रयोग ) ।

( इ ) कज्जति = आचा. 67, 73 और सूत्रकृ. 747 ( म.जै.वि. ) ।  
पिशल ( 547 ) महोदय ने 'कज्जई' रूप का उल्लेख  
किया है । इसका बहुवचन का रूप 'कज्जति' ( क्रियन्ते )  
आचा. 87, सूत्रकृ. 714 इत्यादि में मिलता है ।

( ई ) कज्जमाण ( सूत्रकृ. 431 ) ।

( ii ) कुव्व से बने रूपों के प्रयोग :

कुव्वति ( सूत्रकृ. 376, 417 ), कुव्वंति ( सूत्रकृ. 262, 418 ),  
कुव्वमाण ( आचा. 19 ), कुव्वं ( आचा. 13, सूत्रकृ. 753 ),  
कुव्वित्था ( आचा. 321 ), कुव्वह ( आचा. 117 ),<sup>2</sup>

कुव्वेज्ज ( इसिभासियाइं 33.7, 17 ), इत्यादि ।

पालि सुत्तनिपात में भी ऐसे प्रयोग मिलते हैं :— कुव्वति,  
कुव्वन्ति, पकुव्वमानो, कुव्वेथ, कुव्वये, इत्यादि ।

1 देखिए S. M. Katre: Prakrit Languages and their  
Contribution to Indian Culture, p. 60 (1945).

2 इन प्रयोगों के लिए देखिए पिशल ( 508 और 517 )



ऊपर दर्शाये गये प्राचीन प्रयोग अर्धमागधी की प्राचीनता सिद्ध करते हैं और कभी कभी वह पालि भाषा के समान हो ऐसी प्रतीति कराते हैं। मूलतः अर्धमागधी साहित्य का सृजन ई. स. की कुछ (चतुर्थ शताब्दी ई. स. पूर्व) शताब्दियों पहले हुआ था<sup>1</sup> अतः पालि के समान एवं अन्य प्रकार के प्राचीन भाषाकीय प्रयोग इस साहित्य में मिला रहे हैं। यह भाषा महाराष्ट्री और शौरसेनी प्राकृतों से निश्चयतः पूर्वकालीन है और शब्दों की वर्तनी में व्यंजन संबंधी जो ध्वनि-परिवर्तन (मध्यवर्ती व्यंजनों का लोप इत्यादि) मिलता है वह सब कालान्तर में प्रविष्ट हुआ है ऐसा मानने में कोई शंका नहीं रह जाती है।<sup>2</sup>

1 पाटलिपुत्र की प्रथम वाचना का यह समय है जो ई. स. पूर्व चौथी शताब्दी का दूसरा दशक माना जाता है।

देखिए — जैन साहित्य का बहद् इतिहास, भाग-1, प्रस्तावना, पृ 51 (1966 A. D), वाराणसी.

2. आगम दिवाकर पू. मुनि श्री पुण्यविजयजी का स्पष्ट मन्तव्य रहा है कि मध्यवर्ती अल्पप्राण का प्रायः लोप और महाप्राण का प्रायः ह व्यंजनों में बदलना इन नियमों को अर्धमागधी के प्राचीन ग्रंथों में इतना अधिक स्थान प्राप्त नहीं था। इसका उल्लेख प्रारंभ के अध्याय में ही कर दिया गया है।

पं. श्री बेचरदास जीवराज दोषी का भी यही मत रहा है कि प्राचीन अर्धमागधी भाषा व्यंजन-प्रधान थी परन्तु कालानुक्रम से उसमें से (मध्यवर्ती) व्यंजनों का लोप हो (या कर दिया) गया होगा। देखिए-प्राकृत मार्गोपदेशिका, पृ. 29, चौथी आवृत्ति (1947).

### ३. अर्धमागधी आगम-ग्रन्थों की प्राचीनता और उनकी रचना का स्थल

जैन आगम-ग्रन्थों की अर्धमागधी भाषा का स्वरूप एक समान नहीं है यह सभी विद्वान जानते हैं और यह भी सर्वविदित है कि काल की गति और स्थलान्तर के साथ मूल अर्धमागधी भाषा में परिवर्तन होता गया है। ऐसी स्थिति होते हुए भी प्राचीन आगम-ग्रन्थों में अभी भी ऐसे भाषाकीय प्रमाण मिलते हैं जिनसे यह निस्सन्देह निश्चित किया जा सकता है कि अर्धमागधी आगम-ग्रन्थों की रचना मूलतः पूर्वी भारत में हुई थी और उनकी भाषा में अशोक कालीन भाषा के कितने ही तत्त्व अभी भी मिल रहे हैं जो किसी न किसी प्रकार अपरिवर्तित रूप में बच गये हैं।

#### (1) अर्धमागधी भाषा में अशोककालीन भाषा के लक्षण

क. यथा के लिए अहा और यावत् के लिए आव के प्रयोग

सामान्यतः प्राकृत में प्रारंभिक य - का ज - होता है परंतु अर्धमागधी भाषा में यथा और यावत् के लिए अहा और आव वाले प्रयोग अनेकवार मिलते हैं।

आहत्तहियं (याथातथ्यम्) या आहात्तहीयं (\* याथातथीयम्) — सूत्रकृतांग के 13 वें अध्ययन का यह शीर्षक है। यदि यही शीर्षक सामान्य प्राकृत में होता तो इस प्रकार होता — 'जहातच्छं'। (देखो - पिशल - 335)।

आचारांग से उदाहरण : अहासुतं (यथाश्रुतम्) 1.9।254  
अर्धमागधी आगमग्रन्थों में ऐसे प्रयोग अनेक बार मिलते हैं।  
पिशल महोदयने अपने प्राकृत व्याकरण में बीसों ऐसे उदाहरण

आगम—ग्रन्थों से प्रस्तुत किये हैं । उन्होंने जिन जिन ग्रन्थों से जो जो शब्द दिये हैं वे **अहा** (यथा) और **आव** (यावत्) संबंधी इस प्रकार हैं (देखिए पिशल - 335, 404, 565) ।

आचारांग : (अ) अहाकप्पं, अहाणुपुव्वीए, अहारिहं, अहासुद्धमं, अहासुयं, अहातिरित्त, अहाकडं, अहासच्चं, अहापरिजुण्ण; (ब) आवकहं, आवकहाए, आवन्ती (इत्यादि) ।

सूत्रकृतांग : अहाकम्माणि, आहाकडं; आवकहा ( इत्यादि ) ।

स्थानांग :—अहाराइणियाए; आवकहाए ( इत्यादि ) ।

व्याख्याप्रज्ञप्ति — अहामग्गं, अहासुत्तं, (इत्यादि) ।

ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, कल्पसूत्रः—अहाकप्पं, अहामग्गं, अहासुत्तं ।

औपपातिक सूत्र :—अहाणुपुव्वीए ।

उत्तराव्ययन सूत्र :—अहाकम्मोहिं ।

प्रारंभिक य को अ में बदलने के विषय में प्रो. मेहेण्डले (पृ. 274) का कहना है कि अशोक के शिलालेखों में पूर्वी प्रदेश की यह प्रवृत्ति है और इस प्रदेश के प्रभाव के कारण अन्य क्षेत्रों में भी पायी जाती है । अशोक के पश्चात् यह प्रवृत्ति कम हो जाती है परन्तु पूर्वी प्रदेश में द्वितीय शती ई. स. पूर्व तक कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं ( मेहेण्डले, पृ. 13 ) ।

शिलालेखीय उदाहरण :—

अथा ( यथा ) धौली, जौगड, कालसी एवं स्तंभलेख,  
(अन्यत्र—यथा) ।

आवं, आवा (यावत्) धौली, कालसी, स्तंभलेख, गिरनार,  
शाहबाजगढी और मानसेहरा ।

ख. 'मति' शब्द के लिए 'मुति' का प्रयोग

( i ) आचारांग में एक प्रयोग मिलता है—सहसम्मुइयाए  
(से जं पुण जाणेज्जा सहसम्मुइयाए...। आचा. 1.1.1.2)।  
वृत्ति में इसके लिए जो पाठान्तर मिलते हैं वे इस प्रकार हैं—

सहसम्मुइए, सहसम्मइए । आचारांग की निर्युक्ति (गाथा नं. 65,67)  
और उत्तराध्ययन में (28.17) सहसम्मुइया (तृ.ए.व.) पाठ मिलता है।  
अर्थात् 'सम्मुइ' मूल शब्द है जो 'सम्मति' के लिए प्रयुक्त है।

( ii ) पालि सुत्तनिपात में भी इसी तरह मुत, मुति और सम्मुति  
शब्द मिलते हैं—

दिट्ठं सुतं मुतं—43.3;51 17, सम्मुति 51.10,  
मुतिया (तृ.ए.व.) 47.12

( iii ) अशोक के शिलालेखों में भी इसी प्रकार का प्रयोग  
मिलता है—

वेदनियमुते = वेदनीयमतः, गुलुमुते = गुरुमतः

( कालसी लेख नं. 13 ), मुखमुते = मुख्यमतः

( शाहवाजगढी और मानसेहरा लेख नं. 13) और मुते =  
मतः (कालसी लेख नं. 6) ।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि लोकभाषा में मतः के लिए  
मुते का प्रचलन था अतः पालि और प्राचीन प्राकृत भाषा अर्थात्  
अर्धमागधी में भी यह प्रयोग चल पड़ा ।

ग. चतुर्थी एकवचन की विभक्ति—आये = — आए

अर्धमागधी भाषा में अकारान्त शब्दों के लिए चतुर्थी एकवचन  
की—आए विभक्ति बहुप्रचलित है । जैसे : तं से अहिताए (आच.

1.1.2.13) । पिशल महोदय ने ( 361, 364 ) इसके अनेक उदाहरण आगम साहित्य से प्रस्तुत किये हैं ।

इसी विभक्ति का पूर्वरूप—आये हमें अशोक के शिलालेखों में प्राप्त हो रहा है (मेहेण्डले पृ. 28 )

उदाहरण :

**इमाये अठाये** (अस्मै अर्थाय) घौली 5.7,

**इमाये धंमानुसाथिये** (अस्मै धर्मानुशिष्ट्यै) घौली-3 2

शाहवाजगढी और मानसेहरा में भी 'अठाये' रूप मिलता है । मध्य, पश्चिम और दक्षिण क्षेत्रों में यह विभक्ति नहीं मिलती है । यही — आये विभक्ति परवर्तीकाल में उत्तर-पश्चिम में—आए में बदल जाती है परंतु अन्य सभी क्षेत्रों में बाद में —आय के रूप में ही मिलती है ( मेहेण्डले पृ. 283) । पूर्वी क्षेत्र के परवर्ती काल के शिलालेख नहीं मिलने के कारण उस क्षेत्र के उदाहरण नहीं दिये जा सकते ।

घ. वर्तमान कृदन्त के प्रत्यय—मान के स्थान पर—मीन

अर्धमागधी आगम-ग्रन्थों में वर्तमान कृदन्त-मान के लिए कभी कभी — मीन का प्रयोग मिलता है । कभी कभी — मीन को पाठान्तर में रख दिया गया है और स्वीकृत पाठ में — मान,—माण ही रखा गया है । पिशल महोदय के अनुसार आचारांग में ही यह प्रत्यय अधिक मात्रा में मिलता है (562) ।

उदाहरण :-

घायमीण, समणुजाणमीण, अणाढायमीण, आगममीण, अभिवायमीण, अपरिगहमीण, अममायमीण, आसाएमीण (आचा. शुत्रिंग, पृ. 31,33, म. जै. वि. सूत्र. 192, 199), विकासमीण (सूत्रकृतांग), भिसमीण,

भिभिसमीण (नायाधम्मकहाओ) । व्यवहारसूत्र में भी ऐसे प्रयोग काफी मात्रा में मिलते हैं । पूज्य पुण्यविजयजी द्वारा आचा, चूर्णी (पृ. 41.7) का संशोधित पाठ भी इसी प्रकार का मिलता है—  
**आरंभमीणा** विणयं वदंति (सूत्र-62) ।

प्रश्न यह है कि—मान के बदले में —मीन प्रत्यय आया कहाँ से और यह कौन से काल में प्रचलित था । इसका उत्तर हमें अशोक के शिलालेखों से मिलता है, उदाहरण :-

**संपटिपजमीन, विपटिपादयमीन** (पृथक् धौली लेख)

**पलकममीन** (सहसराम लघु शिलालेख), **पायमीन** (स्तंभलेख),  
**पकममीन** (सिद्धापुर, रूपनाथ, बैराट लघुशिलालेख, येरागुडी शिलालेख),  
**पकममीण** (ब्रह्मगिरि लघुशिलालेख) ।

प्रो. मेहेण्डले (562) के अनुसार अशोक के पश्चात् यह—मीन प्रत्यय नहीं मिलता है । इससे यह सिद्ध होता है कि इस प्रत्यय के प्रयोगवाले अर्धमागधी साहित्य के अंश निश्चित ही अशोक के समय तक तो प्राचीन है ही ।

**च.** संबंधक भूतकृदन्त का प्रत्यय — तु (—इत्तु)

गाइगर महोदय के अनुसार पालि भाषा में सं. भू. कृ. के जो जो प्रत्यय (अल्पमात्रा में या अधिक मात्रा में) मिलते हैं वे इस प्रकार हैं—त्वा, त्वान, तून, च्च, य, य्य, इय और यान (208-214) ।

ये सभी (—य्य के सिवाय) प्रत्यय (ध्वनि-परिवर्तन के साथ) अर्धमागधी भाषा में भी मिलते हैं परंतु एक और प्रत्यय मिलता है और वह है —त्तु (—इत्तु) जो पालि में नहीं मिलता है (पिशल-577),  
उदाहरण :—

जाणित्तु (आचारांग), चइत्तु (उत्तराध्ययन), पत्रिसित्तु, पमज्जित्तु (दशवैकालिक) वंदित्तु (कल्पसूत्र), सुणित्तु, भुज्जित्तु (दशवैकालिक) इत्यादि ।

ये सब उदाहरण अर्धमागधी के प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं जो पिशल ने प्रस्तुत किये हैं ।

यही प्रत्यय अशोक के शिलालेखों में मिलता है । अतः उस समय में प्रचलित प्रत्यय ही उस काल की रचनाओं में आ सकता है और यदि यह प्रचलित नहीं होता तो अर्धमागधी में कैसे आ सकता ।

उदाहरण :—

जाणित्तु (घौली पृथक्), सुतु (कालसी, टोपरा),  
श्रुतु (शाह., मान.) ।<sup>1</sup>

ऊपर दी गयी पाँचों भाषाकीय विशेषताएँ—प्रारंभिक य = अ, मति = मुति, च.ए.व. की विभक्ति - आए, व. कृ. - मान = मीन और सं. भू. कृ. का प्रत्यय — तु — अशोक के शिलालेखों में पायी जाती हैं । इससे पहले के उत्कीर्ण प्रमाण हमारे पास नहीं हैं अतः ये भाषाकीय विशेषताएँ अशोक से भी कितनी प्राचीन होगी यह नहीं कहा जा सकता परन्तु इतना निश्चित है कि इन विशेषताओं का अर्धमागधी आगम-ग्रन्थों में मिलना यही साबित करता है कि अमुक आगम-ग्रन्थों की रचना कम से कम अशोक के काल तक पुरानी तो है ही ।

1. शिलालेखों में किसी व्यंजन के द्वित्व के स्थान पर एक ही व्यंजन लिखने की पद्धति पायी जाती है, जैसे, - सु = - तु ।

## (2) अर्धमागधी भाषा में भारत के पूर्वी क्षेत्र (अशोक कालीन भाषा) के लक्षण

छ. र = ल

अर्धमागधी भाषा के आगम ग्रन्थों में रकार के स्थान पर लकार के कितने ही प्रयोग मिलते हैं — आचारांग प्रथम श्रुतस्कंध से उदाहरण : — लाढ (294, 295, 298, 300), लुक्ख (176), ल्ह (99, 161, 198, 295, 300), एलिस (177), अणेलिस (229), एल्लिक्ख (297), पल्लिछिंदिय (145), पल्लिछिंदियाणं (115), पल्लिछिण्ण (144), पल्लिओछ्ण (151), पल्लिमोक्ख (151), उराल ( उदार — 263 ), इत्यादि ।

इसिभासियाइं — अन्तल्लिक्ख 10. पृ. 23.5, पल्लिछ्णो 45.45; व्यवहारसूत्र — अपल्लिछ्ण; बृहत्कल्पसूत्र — पल्लिछन्न; निशीथसूत्र — पल्लिमह, इत्यादि ।

पिशल महोदयने (257) अपने प्राकृत व्याकरण में ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं —

अंतल्लिक्ख (आचा., उत्तरा., दशवै इत्यादि), परियाल (परिवार), पल्लियन्त (पर्यन्त), रुइल (रुचिर), इत्यादि ।

इस विषय में उनका कहना है कि अन्य प्राकृतों से अर्धमागधी में र = ल के प्रयोग अधिक मात्रा में और बहुधा मिलते हैं। इस दृष्टि से यह भाषा मागधी के निकट पहुँचती है और महाराष्ट्री से दूर हो जाती है (257) ।

अशोक के शिलालेखों में तो पूर्वीक्षेत्र में रकार का प्रायः लकार ही पाया जाता है अतः यह लक्षण स्पष्ट रूप से पूर्वी क्षेत्र



का है और अर्धमागधी साहित्य की रचना का संबंध निश्चक रूप से पूर्वी क्षेत्र यानि मगध देश के साथ जुड़ता है ।

ज. क = ग

अर्धमागधी भाषा में मध्यवर्ती क का ग में परिवर्तन अधिक प्रमाण में मिलता है और मध्यवर्ती ग को अधिक प्रमाण में यथावत् रखा जाता है । इस भाषा के प्रभाव से ही जैन शौरसेनी और जैन महाराष्ट्री में भी यह प्रवृत्ति चालू रही होगी (पिशल-202) । अन्य प्राकृतों में तो कभी कभी ही क = ग मिलता है ।

अर्धमागधी से उदाहरण :—

लोग, असोग, आगास, एगमेग, जमगसमग, कुलगर, सागपागाए, सिलोगगामी, अप्पग, फलग, इत्यादि ।

मेहेण्डले के अनुसार ( पृ, 271 ) मध्यवर्ती क को ग में बदलने की प्रवृत्ति पूर्वी क्षेत्र की है और वह क्रमशः मध्यक्षेत्र, दक्षिण और पश्चिम में फैलती है । अशोक के उदाहरण : — 'लोग' (लोक) जौगड पृथक् लेख, जबकि 'लोक' अन्य शिलालेखों में ।

पू. हेमचन्द्राचार्य भी अपने व्याकरण में मध्यवर्ती क के ग में बदलने के कितने ही उदाहरण देते हैं जो वास्तव में अर्धमागधी की विशेषता का ही अप्रस्तुत रूप में उल्लेख जान पड़ता है । सूत्र नं. 8.1.177 जो मध्यवर्ती व्यंजनों के लोप का सूत्र है उसकी वृत्ति में दिये गये उदाहरण इस प्रकार हैं —

इत्येव कस्य गत्वम् ; उदाहरण — लोग, एगो, सावगो ।

अर्धमागधी पूर्वीक्षेत्र की भाषा होने के पक्ष में यह एक और प्रमाण प्रस्तुत है ।

### इ. सामंत शब्द का समीप के अर्थ में प्रयोग

अर्धमागधी आगम-साहित्य के कुछ अंग नामक ग्रन्थों में 'अदूरसामंते' शब्द का प्रयोग अनेकबार मिलता है जिसका अर्थ है 'दूर नहीं समीप में' । अर्थात् निकट, नजदीक, पास में ।

गणधर से ( भगवान महावीर के) उपदेश सुनते समय शिष्य जिस प्रकार बैठता है उस विनय-पूर्वक स्थिति के लिए इस शब्द का प्रयोग हुआ है —

नायाधम्मकहाओ — अ. 6 —

इंद्रभूई नाम अणगारे अदूरसामंते जाव....। इसी प्रकार के अन्य उदाहरणों के लिए देखिए —

आगमशब्दकोश, भाग-1, पृ. 55, ई. स. 1980

संस्कृत साहित्य में समन्त और सामन्त दोनों शब्दों के प्रयोग मिलते हैं । वैदिक साहित्य में इनका अर्थ है — पड़ोस, पास में, नजदीक यानि समीप । परन्तु परवर्ती साहित्य में सामंत शब्द का अर्थ 'अधीन राजा' हो गया । अर्धमागधी साहित्य में यही शब्द समीप के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । इसके स्थान पर समंत का प्रयोग नहीं है ।

अशोक<sup>1</sup> के शिलालेखों में पड़ोसी के लिए धौली, जौगड और कालसी में सामन्त शब्द का प्रयोग है, जबकि शाहबाजगढी और

1 अशोक के शिलालेखों से उदाहरण :

(अ) अंतियोकस सामंता लाजाने (धौली, जौगड, नं. 2.2)

(आ) अंतियोगसा सामंता लाजानो (कालसी, नं. 2.5)

(इ) अंतियोकस्स समंत रज्जो (शाहबाजगढी नं. 2.6)

(ई) ...गस समंत रज्जने (मानसेहरा, नं. 2.6)

(उ) अंतियकस सामीपं राजानो (गिरनार नं. 2.3)

मानसेहरा में 'समन्त' शब्द मिलता है। गिरनार में इस के स्थान पर 'सामीपं' शब्द मिलता है। इससे और भी स्पष्ट हो जाता है कि अर्थ और जोड़नी की दृष्टि से 'सामन्त' शब्द का प्रयोग जिस प्रदेश में था उसी प्रदेश से यह शब्द अर्धमागधी आगमों में आया है। अर्थात् आगमों की रचना पूर्वी प्रदेश में हुई है इसमें कोई संदेह नहीं है। पालि<sup>1</sup> साहित्य में भी 'सामन्त' शब्द का अर्थ पडौसी या पडौस में होता है।

### ट. यकार युक्त संयुक्त व्यंजनों में स्वरभक्ति

प्राकृत भाषा में संयुक्त व्यंजनों में प्रायः समीकरण होता है। परंतु अर्धमागधी भाषा में संयुक्त व्यंजनों में जहाँ पर द्वितीय व्यंजन य हो उनमें समीकरण के बदले में स्वरभक्ति के उदाहरण अधिक मिलते हैं, जैसे—

अणितिय (अनित्य) आचा. 1.1.5.45

तहिय (तथ्य) उत्तरा. 28.14

कारिय (कार्य) इसिभासियाइं 11.3

वेयावडिय (वैय्यावृत्य) व्यवहार सूत्र; आचा. 1.5.4.163

पालि भाषा के सुत्तनिपात में भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं—

तथिय (तथ्य) 50.5,6, मच्छरिय (मात्सर्य) 49.2

समीकरण के बदले सामान्यीकरण करने की संयुक्त व्यंजनों की यह पद्धति आल्सडर्फ महोदय के अनुसार अशोक के शिलालेखों में पूर्व भारत में पायी जाती है जबकि उत्तर-पच्छिम और पच्छिम में उनका या तो समीकरण होता है या वैसे के वैसे रहते हैं।<sup>2</sup>

1. देखिए 'पालि इंग्लिश डिक्शनरी जिसमें दीघनिकाय और विनयपिटक से प्रयोग उद्धृत किये गये हैं।

2. L. Alsdorf : Kleine Schriften, pp. 451-2;

और देखिए—मेहेण्डले नं. 4<sup>1</sup>, पृ. 22

अशोक के शिलालेखों से उदाहरण—

शक्य = सकिय (जौगड), सक (गिरनार), सक्य (ब्रह्मगिरि, सिद्धापुर) ।

इभ्य = इभिय (धौली, जौगड), इभ्य (मानसेहरा), इभ (शाहबाजगढी, कालसी) ।

व्यञ्जन = वियंजन (धौली, जौगड, कालसी), व्यंजन (गिरनार) ।

ठ. अर्धमागधी भाषा में शब्द के (विभक्ति युक्त) अन्तिम -अः = -ए के प्रयोग

अर्धमागधी भाषा में अकारान्त पुं. प्र. ए. व. के लिए -ए विभक्ति सामान्यतः पायी जाती है जो मूलतः मागधी का लक्षण है। परंतु इस विभक्ति के सिवाय अन्य रूपों में जिनका अन्त अः में होता है उनमें भी-अः के स्थान पर-ए का पाया जाना क्षेत्र की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है।

उदाहरणार्थ :-

(अ) पुरस् = पुरे<sup>1</sup> (जस्स णत्थि पुरे पच्छा मज्जे तस्स कुओ सिया-आचा. 1.4.4.145; पुरे संखडिं वा पच्छा संखडिं वा-आचा. 2.1.2.3.38); पुरेकड, पुरेकम्म, पुरेक्खड, पुरेक्खार, पुरेसंथय इत्यादि के लिए देखिए पिशला-345

(या) अधस् = अधे, अहे (उड्ढं अधे य तिरियं च पेहमाणे-आचा. 1.9.4.320; अधे दिसातो वा आगतो-आचा. 1.1.1.1; कायं अहे वि दंसंति - सूत्रकृ. 1.4.1.3)

(इ) हेट्ठा शब्द की व्युत्पत्ति भी अधे शब्द से ही समझायी जाती है। अधेस्तात् = (\* अधेष्ठात्) = घस्तात् =, हस्तात् ;

1. संस्कृत भाषा में पुरस् के लिए समास के प्रथम शब्द के रूप में इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं—पुर, पुरः, पुरस्, पुरश्च, पुरा, पुगे। इनमें पुरे का प्रयोग नहीं मिलता है।

हेट्टात् , हेट्टा ( देखिए पिशल-107)

- (ई) बहवः = बहवे (आचा. 1.9 3.295,297,302, सूत्रक., उत्तरा,  
रवासगदसाओ, नायाघम्म., इत्यादि-पिशल-380)
- (उ) नामतः = नामते ( जहा णामते अगणिकाए सिया, इसिभासियाई  
22, पृ. 43.5; से जहा नामते, इसिभा. 31, पृ. 69.20)
- (ऊ) नः = ने, णे (= अस्माकम् ) परिदेवमाणा मा णे चयाहि इति  
ते वदंति-आचा. 1.6 1.182; ( देखिए पिशल - 419)

शब्दरूप के अन्तिम-अः को -ओ के बदले -ए में बदलने की प्रवृत्ति खास तौर से पूर्वी भारत की रही है जो अशोक के शिलालेखों से स्पष्ट है। अकारान्त शब्द के पु. प्र. ए. व. की विभक्तिवाले रूपों के सिवाय अन्य रूपों में भी ऐसा परिवर्तन मिलता है।

उदाहरणार्थ :

लाजिने (राज्ञः) घौली, जौगड, कालसी; अतने (अत्तने = आत्मनः) जौगड पृथक् शिलालेख; घौली पृथक् शिलालेख; पियदसिने (प्रियदर्शिनः) घौली, जौगड, कालसी।

जबकि गिरनार, शाहबाजगढी में राजो, गिरनार में राजानो और प्रियदसिनो अर्थात् शब्द के अन्तिम अः के लिए ओ का प्रयोग मिलता है।

इससे इतना तो स्पष्ट है कि अः = -ए वाले प्रयोग अर्धमागधी को पूर्व भारत की भाषा से ही विरासत में मिले हैं और अर्धमागधी 'साहित्य का सृजन पूर्वी भारत में होने का यह एक प्रबल प्रमाण है।

ड. अर्धमागधी में अकस्मात् शब्द का प्रयोग

ध्वनि-परिवर्तन-रहित 'अकस्मात्' शब्द का प्रयोग अर्धमागधी के प्राचीन आगमग्रंथ में बच गया है यह एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा है । यह बचा हुआ प्रयोग इस प्रकार है:—

'एत्थ हि जाणह अकस्मात्'—आचारांग—1.8.1.200, शुब्रिंग पृ. 33.14

इस विषय में आचारांग के टीकाकार शीलाकाचार्य का कहना है कि यह मागध देश की विशेषता है—

अकस्मादिति मागधदेशे आगोपालाङ्गनादिना संस्कृतस्यैवोच्चारणादिहापि तथैवोच्चारित इति (आचा. म. जै. वि., पृ. 70, पा. टि. नं 17) ।

शब्द के अन्त में **त्** की यथास्थिति इसिभासियाई के एक प्रयोग में भी मिलती है—घित् (228) । इसे शुब्रिंग महोदयने अति प्राचीन रूप माना है (देखिए ग्रंथ के अन्त में दिये गये टिप्पण) ।

मृच्छकटिकम् की मागधी भाषा के प्रकरण में भी शब्दान्त में—आत् मिलता है—दूलात् पदिट्टो सि (अंक 2, पद्य नं 1 से पूर्व) ।

पिशल महोदय (314) अर्धमागधी में प्रयुक्त 'अकस्मा' को गलत बतलाते हैं जैसे—अकस्माइंड (सूयगडंग, ठाणंग) और अकस्माकं (सूयगडंग) । वे उसके स्थान पर 'अकम्हा' का प्रयोग उचित बतलाते हैं क्योंकि 'अकस्मा' मागधी का रूप है ।

जब अशोक के पूर्वी प्रदेश के शिलालेखों में भी 'अकस्मा' (धौली पृथक् 120,21 और जौगड पृथक् 14) का प्रयोग मिलता है तो अर्धमागधी में उसका प्रयोग गलत नहीं माना जा सकता । यह प्रयोग अर्धमागधी की प्राचीनता और उसका स्थल निश्चित-

करने में प्रमाण रूप माना जाना चाहिए । अतः अकस्मा के स्थान पर अकम्हा के प्रयोग का पिशल महोदय का सुझाव उपयुक्त नहीं ठहरता है ।

४. कृ घातु का संबन्धक भूतकृदन्त—‘कट्टु’

संबन्धक भूतकृदन्त के प्रत्यय — तु की चर्चा ऊपर की जा चुकी है । कृ घातु से बने ‘कट्टु’ के प्रयोग के बारे में यहाँ पर कुछ कहना है ।

पिशल (577) के अनुसार ‘कट्टु’ के प्रयोग या — ट्टु प्रत्ययवाले अन्य घातुओं के प्रयोग अनेक आगम ग्रंथों में मिलते हैं, उदाहरणार्थ आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, व्याख्याप्रज्ञप्ति, विपाकसूत्र, कल्पसूत्र, औपपातिकसूत्र इत्यादि । कट्टु के सिवाय अन्य प्रयोग पिशल महोदय ने इस प्रकार दिये हैं—अवहट्टु, आहट्टु, समाहट्टु, साहट्टु इत्यादि) ।

ध्वनि—परिवर्तन की दृष्टि से — तु प्रत्यय ही—ट्टु में बदला है । अशोक के शिलालेखों में कृ घातु का संबन्धक भूतकृदन्त कट्टु (घौली पृथक्) और कट्ट (जौगड पृथक्) पूर्वी प्रदेश में मिलता है । अन्य क्षेत्रों में —ट्टु के स्थान पर —तु मिलता है ।

इस प्रयोग के आधार से भी क्या ऐसा नहीं प्रमाणित होता है कि अर्धमागधी ग्रंथों की रचना पूर्वी प्रदेश में हुई है ।

अर्धमागधी आगम—ग्रंथों की भाषा में ऊपर दर्शायी गयी जो विशेषताएँ प्राप्त हो रही हैं उनका सम्बन्ध अशोककालीन भाषा के साथ होने से अर्धमागधी भाषा की प्राचीनता सिद्ध होती है और अशोक के पूर्वी प्रदेश की भाषा से जिन विशेषताओं का सम्बन्ध है

उससे यह सिद्ध होता है कि अर्धमागधी के प्राचीन ग्रन्थों की रचना पूर्वी भारत में हुई है। जैन परंपरा का भी यही दावा है कि अशोक से कितने ही वर्षों पूर्व (ई.स. पूर्व. चौथी शताब्दी) पाटलिपुत्र में आगमों की प्रथम वाचना की गयी थी। अर्धमागधी भाषा में जो प्राचीन और विशिष्ट रूप मिल रहे हैं क्या वे रचना संबंधी काल और स्थल की पुष्टि नहीं कर रहे हैं? सामान्यतः आगमों का काल पाटलिपुत्र की वाचना का काल ही माना जाता है।<sup>1</sup>

- 
1. देखिए—जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-1,  
पं. दलमुख भाई की प्रस्तावना, पृ. 51,



## ४. आचार्य श्री हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण की अर्धमागधी भाषा\*

इन तीन अध्यायों के परिप्रेक्ष्य में आचार्य श्री हेमचन्द्र ने अर्धमागधी भाषा के लिए जिन जिन विशेषताओं का उल्लेख अपने प्राकृत व्याकरण में किया है उनका समालोचनात्मक अध्ययन करके उनके द्वारा दिये गये नियमों में कतिपय और सुदृढ़ जोड़कर क्या अर्धमागधी का एक स्वतंत्र व्याकरण बनाया जा सकता है ?

आचार्य श्री हेमचन्द्र प्राकृत भाषाओं का व्याकरण 'अथ प्राकृतम्' (8.1.1) सूत्र से प्रारंभ करते हैं। व्याकरण के जो नियम दिये जा रहे हैं उनमें प्रवृत्ति, अप्रवृत्ति, त्रिभाषा, अन्यत्, इत्यादि विविधता के कारण इस भाषा की विशेष लक्षणिकताओं को बतलाने के लिए उन्होंने दूसरा ही सूत्र दिया है 'बहुलम्' (8.1.2)। तत्पश्चात् 'आर्षम्' (8.1.3) का उल्लेख किया है जिसे ऋषियों की भाषा बतलायी गई है।

इसी सम्बन्ध में सूत्र नं. 8.4.287 की वृत्ति में एक उद्धरण (आवश्यक सूत्र से) प्रस्तुत किया है—पोराणमद्भमागह—भासा—निययं हवइ सुत्तं अर्थात् पुराना सूत्र अर्धमागधी भाषा में नियत है। इसी को समझाते समय 'आर्ष' और 'अर्धमागधी' एक ही भाषा बतलायी गयी है—इत्यादिनार्षस्य अर्द्धमागधभाषां नित्यत्वम् . . . . . (वृत्ति 8.4.287)।

इसी अर्धमागधी या आर्ष भाषा के विषय में अपने व्याकरण

---

\* 'संज्ञाधि' Vol. XVI, 1989 में प्रकाशित मेरे लेख 'अर्धमागधी भाषा और आचार्य श्री हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण' पृ 42 से 51 का यह विचित्र पविर्धित और संशोधित रूप है। उसे साभार यहाँ दिया जा रहा है।

1. पाइय-सद्-महणवे, उपोद्घात पृ. 35, टिप्पण नं. 4, द्वितीय आवृत्ति, ई. स. 1963.

ग्रन्थ में अलग से कोई व्याकरण नहीं दिया है यह एक आश्चर्य की बात है। मागधी भाषा<sup>2</sup> में कोई विशेष स्वतंत्र साहित्य नहीं मिलता है परन्तु उस भाषा के लिए 16 सूत्र (8.4.287-302) दिये हैं। पैशाची भाषा के लिए 22 सूत्र (303-324) उपलब्ध हैं। चूलिका पैशाची का कोई साहित्य ही नहीं मिलता है फिर भी 4 सूत्र (325-328) दिये हैं। शौरसेनी साहित्य दिगम्बर आम्नाय में अधिक प्रमाण में मिलता है तथापि उसके लिए भी 27 सूत्र (260-286) मिलते हैं और अपभ्रंश भाषा के लिए उन्होंने 118 सूत्र दिये हैं। स्वयं श्वेताम्बर होते हुए भी श्वेताम्बर अर्धमागधी आगमों की भाषा के लिए कोई स्वतंत्र सूत्र एक स्थल पर व्यवस्थित रूप में नहीं लिखे हैं जबकि अर्धमागधी आगम साहित्य विपुल प्रमाण में उपलब्ध है।

क्या जिस प्रकार अन्य भाषाओं का व्याकरण उन्हें परम्परा से प्राप्त हुआ उस प्रकार अर्धमागधी का प्राप्त नहीं हुआ या अर्धमागधी साहित्य की भाषा उनके समय तक इतनी बदल गयी थी कि उसके लिए अलग से सूत्र बनाना असंभव सा हो गया था। उनके व्याकरण के सूत्रों से तो ऐसा लगता है कि जो सामान्य प्राकृत के लक्षण हैं वे ही प्रायः अर्धमागधी के लिए भी लागू होते हैं और कुछ विशेषताओं के लिए उन्होंने बीच-बीच में वृत्ति में उल्लेख कर दिया है। प्रारंभ में ही 'आर्षम्' का सूत्र देकर उसकी वृत्ति में (8.1.3) उन्होंने जो कहा है कि 'बहुलं भवति' एवं 'आर्षे हि सर्वे विधयो विकल्प्यन्ते'—अर्थात् आर्ष में बहुलता पायी जाती है और उसमें सभी विधियाँ घटित होती हैं। इससे तो यही साबित होता है कि अन्य भाषाओं का व्याकरण लिखने का श्रम किया परन्तु अर्धमागधी के

2. नाटकों में प्रयुक्त मागधी के अतिरिक्त कोई स्वतंत्र कृति नहीं मिलती है।

लिए ऐसा नहीं किया क्योंकि उस साहित्य में से प्राचीनता—लक्ष्मी विशेषताओं को अलग करने में बड़ी कठिनाई उनके सामने रही हो। इस तरह का रुख अपनाने के कारण ही पं. श्री बेचरभाई दोशी अपने 'प्राकृत व्याकरण' में अर्धमागधी को कोई एक अलग भाषा मानने को तैयार ही नहीं हुए। हालाँ कि इसकी आलोचना श्री हरगोविन्ददास सेठ ने<sup>3</sup> की है और पिशल ने तो अर्धमागधी को अलग भाषा का दर्जा दिया ही है<sup>4</sup>।

कहने की आवश्यकता नहीं कि भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में सात भाषाओं के साथ अर्धमागधी भाषा को भी एक कीर्ति—प्राप्त स्वतंत्र भाषा के रूप में गिनाया है।<sup>5</sup>

पू. हेमचन्द्राचार्य अपने व्याकरण की प्रशस्ति में अलग से एक नया व्याकरण लिखने का कारण बतलाते हुए कहते हैं कि वे निरवम (न्यूनता रहित) और त्रिधिवत् व्याकरण बना रहे हैं। अर्धमागधी के विषय में क्या उनका यह विधान लागू होता है? 'बहुलम्' और 'सर्वे विधयो विकल्प्यन्ते' कह देने से आर्ष भाषा को कितनी बड़ी स्वतंत्रता मिल गयी और व्याकरणकार भी सभी बन्धनों से मुक्त हो गये हो ऐसा ही प्रतीत होता है।

इस परिस्थिति के होते हुए भी अर्धमागधी की अपनी लक्षणिकताओं के विषय में क्या एक स्वतंत्र व्याकरण का विधान किया जा सकता था इसी मुद्दे पर यहाँ पर विचार किया जा रहा है।

3. पाइय-सद्-महणगवो, 1963, उपोद्घात, पृ. 35.

4 पिशल, 16-17.

5. ....सप्तभाषाः प्रकीर्तिताः—भ. ना. शा., 17.47.

## आर्ष की विशेषताओं के उल्लेख

आचार्य श्री हेमचन्द्रने अपने प्राकृत व्याकरण में सूत्रों की वृत्ति में अलग अलग स्थलों पर आर्ष भाषा (अर्धमागधी) की विशेषताओं के बारे में 31 बार उल्लेख किया है।<sup>6</sup> इनमें एक उल्लेख उसकी मुख्य विशेषता के बारे में है अर्थात् अकारान्त पुं. प्र. ए. व. के लिए—ए विभक्ति के बारे में है। इसके सिवाय नाम विभक्तियों के बारे में दो और उल्लेख हैं। काल तथा कृदन्त के विषय में एक एक उल्लेख है जबकि अन्य उल्लेख अधिकतर ध्वनि-परिवर्तन के विषय में हैं।

6. श्रीमती नीति डोलचीने जिन सूत्रों का उल्लेख किया है उनमें एक सूत्र 8.3.137 और जोड़ा जाना चाहिए। देखिए—

The Prakrit Grammarians, p. 180, f.n. 1 (1972)

हेमचन्द्र के व्याकरण में विभिन्न सूत्रों की वृत्ति में विषय इस प्रकार हैं—

सूत्र-संख्या	विषय	सूत्र-संख्या	विषय
1	आर्षम्	1	अतिम व्यंजन
2	स्वरपरिवर्तन	1	अव्यय
2	अः का परिवर्तन	1	निपात
2	प्रारम्भिक असंयुक्त व्यंजन	1	नामविभक्ति
5	मध्यवर्ती असंयुक्त व्यंजन	2	विभक्ति-व्यत्यय
4	प्रारम्भिक संयुक्त व्यंजन	1	भूतकाल
7	मध्यवर्ती संयुक्त व्यंजन	1	कृदन्त
23		8	

कुल 31 सूत्र

सूत्र नं. I. 3, 26, 46, 57, 79, 118, 119, 151, 177, 181, 206, 228, 245, 254 (14)

II. 17, 21, 86, 98, 101, 104, 113, 120, 138, 143, 146, 174, (12)

III. 162, IV. 238, 283, 287 (3)

इन विशेषताओं के लिए जो भी उदाहरण दिये गये हैं उनसे यही स्पष्ट होता है कि अर्धमागधी एक प्राचीन प्राकृत भाषा थी । उदाहरणों के रूप में :-

### 1. शब्द के प्रारंभिक य का अ ।

सूत्र है—आदेर्यो ज : (8.1.245 य = ज) परंतु—आर्षे लोपोऽपि । उदाहरण :- अहक्खायं, अहाजायं । अशोक के शिलालेखों में भी ऐसी ही प्रवृत्ति मिलती है । आदि य का ज बहुत बाद की प्रवृत्ति है (मेहेण्डले,<sup>7</sup> पृ. 274) । अर्धमागधी में यथा और यावत् अव्ययों में यह प्रवृत्ति मिलती है ।

2. आर्षे दुगुल्लं (दुकूल) का उदाहरण सूत्र 8.1.119 में दिया गया है । यहाँ पर क के लोप के बदले में ग मिल रहा है हालाँ कि उदाहरण स्वरपरिवर्तन और व्यंजन के द्वित्व का (दुअल्लं, दुऊल्लं) है । लेकिन अर्धमागधी के उदाहरण में लोप के बदले क का घोष ग मिलता है । घोष की प्रवृत्ति लोप से प्राचीन है । अशोक के पूर्वी प्रदेश के शिलालेखों में जौगड के पृथक् शिलालेख में एक बार 'लोक' का 'लोग' (27) मिलता है । खारवेल के शिलालेख में भी एक बार 'क' का ग (उपासक=उवासग) मिलता है ।

3. इस के साथ साथ सूत्र नं. 8.1.177 में मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजनों के प्रायः लोप का जो नियम दिया है, उनकी वृत्ति में भी क का ग होना दर्शाया गया है; उदाहरण—एगत्तं, एगो, अमुगो, सावगो, आगारो, तिथ्यगरो । आगे कहा है आर्ष में ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे । यह सब घोषीकरण की प्राचीन प्रवृत्ति है और बाद

### 7. Historical Grammar of Inscriptional Prakrits, M.A. Mehendale, Poona, 1948

में अर्धमागधी के प्रभाव से अनेक ऐसे शब्द जैन महाराष्ट्री और जैन शौरसेनी साहित्य में भी प्रचलित हो गये । मेहेण्डले<sup>8</sup> (पृ. 271) के अनुसार घोषीकरण की यह प्रवृत्ति पूर्व से अन्य क्षेत्रों में फैली है । पिशल के अनुसार भी अर्धमागधी में मध्यवर्ती 'क' का बहुधा 'ग' मिलता है ।<sup>9</sup> वास्तव में इसका उल्लेख आर्ष की विशेषता के रूप में होना चाहिए था ।

4. सूत्र नं. 8.2.138 में उभय शब्द के लिए अवह और उवह दिये गये हैं और वृत्ति में कहा गया है ॥ आर्षे उभयोकारं ॥ अर्थात् महाप्राण भ का ह में परिवर्तन इस शब्द में नहीं है । प्राचीनतम प्राकृत भाषा में भ का ह में परिवर्तन प्रायः होता हो ऐसा नहीं है । शुब्रिंग महोदय, शार्पेण्टियर और आल्सडर्फ द्वारा संपादित प्राचीन आगम ग्रन्थों में यह लक्षणिकता मिलती है ।

#### 5. मध्यवर्ती न = न या ण

8.1.228 सूत्र के अनुसार मध्यवर्ती न का ण होता है । परंतु फिर वृत्ति में कहा गया है कि—आर्षे आरनालं, अनिलो इत्याद्यपि ।

मध्यवर्ती न को ण में बदलने की प्रवृत्ति अशोक के शिलालेखों के अनुसार दक्षिण भारत की और ई. स. के बाद अन्य क्षेत्रों में पश्चात् कालीन है और यह पूर्वी भारत की प्रवृत्ति थी ही नहीं ।

6. सूत्र नं. 8.1.254 में रकार के लकार में बदलने वाले ल्गभग 25 उदाहरण वृत्ति में दिये गये हैं । अन्त में कहा गया है आर्षे दुवालसङ्गे इत्याद्यपि । अशोक के शिलालेखों में दुवाडस और दुवाळस (द्वादश) शब्द मिलते हैं । बाद में ड और ळ कार ल में बदल जाता है । र के ल में बदलने की प्रवृत्ति महाराष्ट्री या

8. Ibid. p. 271

9. Comparative Grammar of the Prakrit Languages, R. Pischel, para. 202.

शौरसेनी प्राकृत की नहीं है। यह तो मागधी की और पूर्वी भारत की प्रवृत्ति है। जो शब्द उधर दिये गये हैं वे प्रायः अर्धमागधी से ही अन्य प्राकृतों में प्रचलित होने की अधिक संभावना है।

7 सूत्र नं. 8.1.27 की वृत्ति में मणोसिला (मनःशिला) और अइमुत्तयं (अतिमुक्तकम्) आर्ष के लिए दिये गये हैं जबकि प्राकृत के लिए मणंसिला और अइमुंतय दिये गये हैं। संयुक्त के समीकरण के बदले-उनमें से एक व्यंजन का अनुस्वार में बदलने की प्रवृत्ति बाद की मानी जाती है (मणस्सिला — मणंसिला)।

8. सूत्र नं. 8.2.17 में क्ष = च्छ समझाया गया है। वृत्ति में कहा गया है आर्षे इक्खू, खीरं, सारिक्खमित्याद्यपि दृश्यन्ते। अर्थात् क्ष का क्ख भी होता है। अशोक के शिलालेखों में यह पूर्वी क्षेत्र की प्रवृत्ति है। अन्य क्षेत्रों में च्छ मिलता है। बादमें क्ष का सभी जगह च्छ और क्ख एक साथ मिलता है (मेहेण्डले, पृ. 217)।

9. सूत्र नं. 8.1.57 की वृत्ति में 'आर्षे पुरेकम्मं' का उदाहरण दिया गया है। यह अस् = ए यानि पुरः = पुरे है। इसी तरह ही अः = ए की प्रवृत्ति पूर्वी भारत की रही है। अशोक के शिलालेखों में प्रथमा ए. व. के अलावा षष्ठी एवं पंचमी ए. व. के व्यंजनांत शब्दों में अकारान्त के बाद अन्त में विसर्ग आता है वहाँ पर -ए भी मिलता है। इसिभासियाइं में नामते (नामतः) प्रयोग मिलता है (अध्याय 22 और 31)।

10. अकारान्त पुं. प्र. ए. व. की -ए विभक्ति (सूत्र 8.4.287 की वृत्ति के अनुसार) अर्धमागधी भाषा की प्रमुख लक्षणिकता है जो पूर्वी भारत की भाषाकीय विशेषता रही है।

### 11. ब्रू धातु के रूप :-

अब्बवी (अब्रवीत्)

भूतकाल के -सी, -ही, -हीअ प्रत्यय देते समय वृत्ति में आर्षे के लिए 'अब्बवी' रूप दिया है -आर्षे देविन्दो इणमब्बवी ( 8.3.162 की वृत्ति) । वर्त. काल के बेमि (ब्रवीमि) का उदाहरण स्वराणां स्वराः (8.4.238) के सूत्र की वृत्ति में दिया गया है (आर्षे बेमि) ।

ये दोनों रूप अति प्राचीन हैं और प्राचीनतम प्राकृत साहित्य में ही प्रायः मिलते हैं<sup>10</sup> । परवर्ती प्राकृत साहित्य में ऐसे रूप नहीं मिलेंगे । प्राचीन पालि में भी ऐसे ही प्रयोग मिलते हैं ।<sup>11</sup>

12. सूत्र नं. 8.1.206 में (क. भू. कृदन्त प्रत्यय) -त का -ड होना समझाते समय वृत्ति में कहा गया है आर्षे कृत का कड हो जाता है, दुक्कडं, सुकडं, आहडं, अवहडं ।

यह प्रवृत्ति भी अशोक कालीन शिलालेखों में मिलती है—  
कृत = कट । इसी ट का बाद में घोष होकर ड बन गया है ।

13. संबंधक भूतकृदन्त के उदाहरण देते समय सूत्र नं. 8.2.146 की वृत्ति में कहा गया है—

कट्टु इति तु आर्षे, अर्थात् -ट्टु प्रत्यय ।

यह विशेषता अशोक कालीन पूर्वी क्षेत्र की है । अन्य क्षेत्रों में 'तु' प्रत्यय मिलता है ।

इन सभी विशेषताओं को सूत्रबद्ध करके क्या अन्य प्राकृतों की तरह उन्हें एक जगह व्यवस्थित नहीं रखा जा सकता था जबकि

10. Ibid. 515

11. Geiger: Pali Literature and Language, No 159 IV.



अन्य प्राकृतों की एकल दोकल विशेषताएँ भी सूत्रबद्ध करके समझायी गयी हैं । उदाहरणार्थ :—

(अ) शौरसेनी के लिए :—

(1) पूर्वस्य पुरवः 8.4.270 ॥ पूर्व शब्द का पुरव ॥

(2) क्त्वा इय दूणौ 8.4.271 ॥ सं. भू. कृ. के इय एवं दूण प्रत्यय ॥

(ब) मागधी के लिए :—

(1) ब्रजो जः 8.4.294

मागध्यां ब्रजेः जकारस्स ज्जो भवति ॥ वज्जदि ॥

(2) तिष्ठः चिष्ठः 8.4.298 ॥ चिष्ठदि ॥

(3) अहं वयमोः हगे 8.4.301

अहम् और वयम् का हगे होता है ।

(क) पैशाची के लिए :—

हृदये यस्य पः ॥ हितपकं ॥ 8.4.310 ॥

(द) प्राकृत के लिए :—

(1) किराते चः 8.1.183 ॥ चिलाओ ॥

(2) शङ्खले खः कः 8.1.189 ॥ सङ्खलं ॥

(3) छागे लः 8.1.191 ॥ छालो, छाली ॥

(4) स्फटिके लः 8.1.197 ॥ फलिहो ॥

(5) ककुदे हः 8.1.225 ॥ कउहं ॥

(6) भ्रमरे सो वा 8.1.244 ॥ भसलो ॥

(7) यष्ट्यां लः 8.1.247 ॥ लट्टी ॥

आर्ष भाषा के उन्होंने जितने भी उदाहरण दिये हैं उन सब

के लिए अलग अलग सूत्र बनाने के लिए उनके पास काफी सामग्री थी। इसके अलावा प्रारंभिक न = न के लिए भी सविशेष कह सकते थे और ङ, न्न, न्य = न्न के बारे में भी सूत्र दे सकते थे जैसा कि उन्होंने मागधी के लिए सूत्र (8.4 293) दिया है। ये सब प्राचीन प्रवृत्ति के अन्तर्गत आते हैं। उन सब का मूर्धन्य ण या ण्ण होना बाद के काल की प्रवृत्ति है। आचार्य श्री हेमचन्द्र के ही व्याकरण-ग्रन्थ में विभिन्न स्थलों पर (चतुर्थ अध्याय के धात्वादेश) को छोड़कर) जो उदाहरण दिये हैं उनमें शब्द के प्रारंभ में नकार 8 बार और णकार एक बार यानि 8:1 के अनुपात में मिलता है अर्थात् प्रारंभिक नकार का प्रायः नकार ही मिलता है। उसी प्रकार ङ, न्न, न्य का न्न अधिक बार और ण्ण कम बार मिलता है।

इसी प्रकार क-वर्ग एवं च-वर्ग के अनुनासिक व्यंजन स्वर्ग के व्यंजनों के साथ प्रयुक्त हो सकते हैं ऐसा भी सूत्र बनाया जा सकता था।

अपने व्याकरण के प्रथम सूत्र की वृत्ति में वे कहते हैं कि अनुनासिक संयुक्त रूप में आते ही हैं और पुनः 8.1.30 में ऐसा आदेश है कि संयुक्त रूप में आने पर उनका विकल्प से अनुस्वार हो जाता है। इस सूत्र के बावजूद भी उनके व्याकरण ग्रंथ में जितने भी प्रयोग हैं उन सब में अधिकतर ये अनुनासिक व्यंजन ही प्रयुक्त हैं न कि उनके बदले में अनुस्वार।

### अमुक विशेषताओं का उल्लेख ही नहीं

अर्धमागधी की जिन जिन विशेषताओं का आचार्य श्री हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में उल्लेख ही नहीं हुआ है वे इस प्रकार हैं। इनमें

से कुछ तो बहुप्रचलित हैं और कुछ कभी कभी कहीं पर प्राचीनता के रूप में बच गयी हैं ।

अ. बहु—प्रचलित

- (1) सप्तमी एक वचन की त्रिभक्ति-अंसि : उदाहरण—नयरंसि, लोगंसि, रायहारिंसि
- (2) हेत्वर्थक कृदन्त का प्रत्यय—इत्तए
- (3) चतुर्थी त्रिभक्ति (पुं. अकारान्त ए. व. की) आए
- (4) संबन्धक भूतकृदन्त प्रत्यय —इया, —इयाण, —इयाणं, —इत्ताणं  
(8.2.146)
- (5) —च्चा प्रत्यय का सं. भू. कृ. के अन्य कृदन्तों के साथ उल्लेख नहीं हुआ है । हाँ त्व = च्च के प्रसंग पर अवश्य दिया गया है (8.2.15 सोच्चा, भोच्चा, णच्चा) परंतु—च्चाणं का उल्लेख नहीं है ।

ब. क्वचित् प्राप्त

- [ i ] अकस्मा या अकस्मात् के प्रयोग,
- [ ii ] त श्रुति के विषय में,
- [ iii ] मध्यवर्ती त और थ के बदले में क्रमशः द और घ के प्रयोग,
- [ iv ] तृ. व. व. की त्रिभक्ति—भि,
- [ v ] सार्वनामिक सप्तमी एक वचन की त्रिभक्ति—ग्धि,
- [ vi ] स्त्रीलिङ्गी एक वचन की त्रिभक्तियाँ—य, —या और —ये
- [ vii ] वर्तमान कृदन्त का प्रत्यय—मीन और
- [ viii ] भूतकाल का तृ. पु ए. व. का प्रत्यय —इ ।

इन निशिष्टताओं में त और थ के बदले में द और घ के प्रयोग मागधी और शौरसेनी के अवश्य हैं परंतु ऐसे प्रयोग कभी कभी पालि में मिलते हैं और प्राचीन शिलालेखों में मिलते हैं । —भि विभक्ति पालि के प्राचीन साहित्य में मिलती है । स्त्रीलिंग की -य, -या और -ये विभक्तियाँ प्राचीन शिलालेखों और पालि भाषा में मिलती हैं । वर्तमान कृदन्त -मीन अशोक के शिलालेखों में मिल रहा है । भूतकाल का -इ प्रत्यय पालि भाषा में मिलता है और 'इसिभासियाई' में भी ।

ये सब विशेषताएँ अर्धमागधी के प्राचीन साहित्य में किसी न किसी तरह बच गयीं क्योंकि अर्धमागधी साहित्य का प्रारंभिक काल तो उतना ही पुराना है जितना पालि का और उस साहित्य के सर्जन का प्रदेश भी पूर्व भारत ही रहा है जहाँ भगवान महावीर ने और भगवान बुद्ध ने उपदेश दिये थे और उसी प्रदेश में अशोक के शिलालेखों में भी ऐसी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं । अतः इन प्राचीन तथ्यों को ध्यान में लेना इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि इनसे अर्धमागधी की मागधी भाषा के जितनी ही प्राचीनता सिद्ध होती है ।

## ५. प्राचीन अर्धमागधी प्राकृत की मुख्य लक्षणिकताएँ

अर्धमागध देश की जो भाषा थी या जिस भाषा में आधे मागधी भाषा के लक्षण थे उसे अर्धमागधी भाषा की संज्ञा दी गयी है। इस परंपरा को ध्यान में रखते हुए प्राकृत व्याकरण, प्राचीन पालि साहित्य, प्राचीन शिलालेखों, प्राचीन अर्धमागधी साहित्य, आगम साहित्य की हस्तप्रतों, चूर्णों आदि में उपलब्ध प्राचीन प्रयोगों के आधार से मूल अर्धमागधी की अपनी विशेषताएँ निश्चित की जा सकती हैं जो अर्धमागधी साहित्य के प्राचीन अंशों (विषय—वस्तु, शैली एवं छन्द के आधार से निर्धारित) के सम्पादन में पथ—प्रदर्शक बन सकती हैं। अपनी अल्पज्ञ मति के अनुसार उन लक्षणिकताओं को इस प्रकार दर्शाया जा सकता है :—

1. यकार से प्रारंभ होनेवाले अव्ययों में यदि य के बदले में अ मिले तो उसे प्राथमिकता दी जानी चाहिए।
2. मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजनों का महाराष्ट्री प्राकृत की तरह प्रायः लोप नहीं किया जाना चाहिए। (स्वर प्रधान पाठ गेय होने के कारण मध्यवर्ती व्यंजनों के लोप की प्रवृत्ति को पुष्टि मिली है इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता)।
3. मध्यवर्ती महाप्राण व्यंजनों के बदले में प्रायः ह ही अपनाया जाना चाहिए यह भी उचित नहीं है।
4. मध्यवर्ती क या उसके बदले में ग को और मूल ग को यथावत् रखने में प्राथमिकता मिलनी चाहिए।
5. मध्यवर्ती त को सर्वत्र त श्रुति मानकर उसका लोप नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि त श्रुति का लेखन में प्रचलन बहुत बादका है।

6. मध्यवर्ती त और थ का क्रमशः कभी द और घ मिले तो उसे प्राचीनता का लक्षण माना जाना चाहिए । कभी कभी द का त मिले तो उसे भी प्राचीन और उसके लोप के पहले की अवस्था मानी जानी चाहिए ।

7. कभी कभी पालि की तरह ळ मिले तो उसे ड में बदलने का नियम नहीं होना चाहिए (देखिए आचार्य श्री हेमचन्द्र द्वारा दिया गया उद्धरण, सूत्र नं. 8.1.7 की वृत्ति में 'कळभ' शब्द और पिशल (304,379) द्वारा दिये गये उदाहरण, लेळु, लेळुंसि) । अर्धमागधी में प्रयुक्त कीळ, खेळ, छळ, णळाड, तळाग, तळाव, ताळ, दोहळ, पीळ, फळिह, फळिय, वेळु, सोळस, आदि शब्दों के लिए देखिए पिशल की शब्द-सूची ।

8. प्रारंभिक दन्त्य नकार को प्राथमिकता देनी चाहिए और अव्यय न का नकार ही रखा जाना चाहिए (जैसी कि शुब्रिंग महोदय की पद्धति रही है) ।

9. कभी कभी मध्यवर्ती दन्त्य न मिले तो उसका सर्वत्र ण बनाना जरूरी नहीं समझा जाना चाहिए ।

10. रकार का लकार मिले तो सुरक्षित रखना चाहिए ।

11. संयुक्त व्यंजनों में समीकरण के बदले स्वरभक्ति का पाठ मिले तो उसे प्राथमिकता दी जानी चाहिए, जैसे—द्रव्य = दविय, नित्य = नितिय, तथ्य = तथिय, अग्नि = अगणि, उष्ण = उसिण ।

12. ड् और ज् को सजातीय व्यंजनों के साथ संयुक्त रूप में यथावत् रखा जाना चाहिए (उन्हें अनुस्वार में सर्वत्र बदलने की पद्धति पर भार नहीं दिया जाना चाहिए) जैसी शुब्रिंग महोदय की पद्धति है ।

13. संयुक्त व्यंज मिले तो उसे त्याज्य नहीं माना जाना चाहिए ।

14. संयुक्त व्यंजन ज्ञ, न्न और न्य का शुब्रिग महेदय की तरह न्न किया जाना चाहिए । ण्य और णं का न्न में परिवर्तन भी अशोक कालीन पूर्वी भारत की विशेषता रही है ।

15. अर्हत् का अरहा या अरहन्त, आत्मन् का अत्ता या आता, क्षेत्रज्ञ का खेतन्न और अकस्मात् ये सब प्राचीन रूप हैं अतः ऐसे रूपों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए ।

16. पुरस् का पुरे की तरह अधस् का अधे रूप मिले तो उसे रखा जाना चाहिए ।

17. अकारान्त पुलिग प्रथमा एकवचन की -ए विभक्ति यदि मिले तो बदले में-ओ नहीं की जानी चाहिए ।

18. नपुंसकलिङ्गी शब्दों में प्रथमा एवं द्वितीया के बहुवचन में यदि -णि विभक्ति मिले तो रखी जानी चाहिए ।

19. व्यंजनान्त शब्दों के तृ. ए. व. की प्राचीन विभक्तिवाले रूप मिले और कभी कभी स्वरान्त शब्दों के लिए यदि -सा प्रत्यय मिले तो रखा जाना चाहिए (जैसे -कायसा, पन्नसा) ।

20. तृ. व. व. की विभक्ति-मि मिले तो-हि में नहीं बदली जानी चाहिए (जैसे -थीमि, पसूमि) ।

21. अकारान्त पुलिग शब्दों में चतुर्थी ए. व. के लिए प्रयुक्त -आय या -आए विभक्ति को बदलना नहीं चाहिए ।

22. अकारान्त नामिक और सार्वनामिक रूपों में पंचमी में जहाँ अन्त में -अः (अर्थात् मात्र विसर्ग) आता है वहाँ -ओ के बदले में यदि -ए मिले तो उसे बदला नहीं जाना चाहिए । अशोक के पूर्वी

प्रदेश के शिलालेखों की यह एक लाक्षणिकता है। इसी नियम से 'ने' = (नः = अस्माकम्) को 'नो' में नहीं बदलना चाहिए।

23. उसी तरह पंचमी एक वचन में क्रियाविशेषण के लिए व्यंजनान्त शब्दों का पुराना रूप मिले तो रखा जाना चाहिए (जैसे - पदिसो), तृ. ए. व. के अर्थ में जैसे - कमसो और खरान्त शब्दों में - सो विभक्ति वाला रूप, जैसे - सव्वसो, इत्यादि।

24. पंचमी एक वचन की ऐतिहासिक विभक्ति-म्हा मिले तो रखी जानी चाहिए।

25. स्त्रीलिङ्गी शब्दों में तृतीया से सप्तमी तक एक वचन की विभक्तियाँ -य, -या, -ये (अथवा -इ और -आ भी) को मात्र पालि की विभक्तियाँ मानकर उन्हें त्याज्य नहीं समझा जाना चाहिए।

26. वर्तमान कृदन्त के पुं. षष्ठी ए. व. के रूप के अन्त में आने वाला-तो या -ओ सुरक्षित रखा जाना चाहिए।

27. सप्तमी एक वचन की विभिन्न ऐतिहासिक विभक्तियाँ -स्सि, -स्सि, -स्मि, स्मि, -म्हिं या -म्हि मिले तो उन्हें सुरक्षित रखना चाहिए (स और म की आपस की भ्रान्ति मात्र हस्तप्रतों में ही नहीं परंतु शिलालेखों में भी देखने को मिलती है, इसी कारण कभी कभी -स्सि या -अंसि का -म्मि या -अंमि हो जाने के उदाहरण हैं।

28. वर्त. काल तृ. पु. ए. व. का प्रत्यय -ति मिले तो उसे -इ में नहीं बदलना चाहिए।

29. तृ. पु. ए. व. आत्मनेपदी प्रत्यय -ते (-ए) मिले तो उसे -ति, या -इ अथवा -ती, या -ई में नहीं बदलना चाहिए।

30. विधिलिङ्ग के -ए और -या प्रत्यय -ज्ज और -ज्जा से प्राचीन हैं अतः उन्हें प्राथमिकता दी जानी चाहिए।



31. भूतकाल के बचे हुए प्राचीन प्रत्ययों जैसे कि —सि, —सी, —ई, —ई; —त्था, —इत्था; —उ, —ऊ; —स्सं, —अंसु, —इंसु को सुरक्षित रखा जाना चाहिए ।

32. ऋकार वाले धातुओं और कुछ अन्य धातुओं के कर्मणि भूत कृदन्तों के रूपों में मिलने वाला -ड प्रत्यय जैसे कि कड, मड, निव्वुड, अवहड, गड इत्यादि को बदला नहीं जाना चाहिए ।

33. वर्तमान कृदन्त का प्रत्यय -मीन मिले तो रखा जाना चाहिए जैसा कि अशोक के शिलालेखों में मिलता है ।

34. संबंधक भूत कृदन्त के लिए -त्ता, -त्ताणं, -य (-इय) -या, -याणं, -च्चा, -च्चाणं प्राचीन प्रत्यय माने गये हैं ।

35. —त्तए (-इत्तए) हेत्वर्थक कृदन्त का प्राचीन प्रत्यय है ।

36. —भू धातु के लिए भव का प्रयोग भो, हव, हो और हु से प्राचीन माना जाना चाहिए ।

37. उन उन ऐतिहासिक रूपों को जो प्राचीन आर्य भाषा (OIA) के साथ सम्बन्ध रखते हैं (जिनमें कभी कभी ध्वनि-परिवर्तन भी हो गया हो तो) चाहे वे नामिक रूप हो, चाहे क्रियावाची रूप हो या कृदन्त हो उन्हें प्राचीनता की प्रामाणिक सामग्री के रूप में यथावत् रखा जाना चाहिए ।

## ६. 'क्षेत्रज्ञ' शब्द का अर्धमागधी रूप\*

आचारांग<sup>1</sup> के प्रथम श्रुतस्कंध में 'क्षेत्रज्ञ' शब्द के प्राकृत रूपों का 16 बार प्रयोग हुआ है [सूत्र सं. 32 (4); 79 (1); (88) (1). 104 (1); 109 (5); 132 (1); 176 (1); 209 (1); 210 (1)] जो विविध संस्करणों में इस प्रकार उपलब्ध हो रहे हैं :-

- अ. (1) शुब्रिंग महोदय के संस्करण में मात्र खेयन्न ।  
 (2) आगमोदय समिति के संस्करण में खेयन्न 9 बार और खेयण 7 बार ।  
 (3) जैन विश्व भारती के संस्करण में खेयन्न 1 बार और खेयण 15 बार ।  
 (4) महावीर जैन विद्यालय के संस्करण में खेयण 2 बार, खेतण 6 बार और खेत्तण 8 बार ।

ब. पाठान्तर —

- (1) शुब्रिंग महोदय के संस्करण में सिर्फ एक ही पाठान्तर है— खेत्तन्न (चूर्णि से 3 बार और 'जी' संज्ञक प्रत से 5 बार) ।  
 (2) आगमोदय समिति के संस्करण में कोई पाठान्तर नहीं है ।  
 (3) जैन विश्व-भारती के संस्करण में दो पाठान्तर मिलते हैं— खेत्तन्न ('च' संज्ञक प्रत से) और खेत्तण (चूर्णि से) ।

\* 'श्रमण', पा. वि. शो. सं. वाराणसी, अक्टू-दिस, 19.0 में प्रकाशित यह लेख साभार इधर प्रस्तुत किया गया है ।

1. महावीर जैन विद्यालय संस्करण, सं० मुनि जंबूविजय, ई० सन 1977

- (4) महावीर जैन विद्यालय के संस्करण में पाठान्तरों की संख्या 5 है — 1. खित्तण, 2. खेदन्न, 3. खेदण, 4. खेयन्न और 5. खेअन्न ।

इस संस्करण में 'खेत्तन्न' पाठान्तर का कहीं पर भी उल्लेख नहीं होना एक आश्चर्य की बात है, जबकि शुब्रिंग महोदय को ताडपत्र की एक प्रत में और चूर्णि में खेत्तन्न पाठ मिला है ।

स. क्षेत्रज्ञ शब्द के लिए प्राकृत में (ध्वनि-परिवर्तन वाले) जो अलग अलग शब्द अपनाये गये हैं वे इस प्रकार हैं —

- (1) खेयन्न, खेयण, खेतण, खेत्तण

इन चारों पाठों को विभिन्न संपादकों ने समान रूप से नहीं अपनाया है ।

- (2) उपरोक्त संस्करणों के पाठान्तरों में जो रूप मिलते हैं वे इस प्रकार हैं—खेत्तन्न और ऊपर ब (4) में दिये गये पाँच रूप— खित्तण, खेदन्न, खेदण, खेयन्न और खेअन्न ।

- (3) अर्थात् कुल नौ रूप मिलते हैं जो निम्न प्रकार से चार विभागों में रखे जा सकते हैं :-

[ अ ] खेयन्न, खेअन्न (न्न); ज्ञ = न्न

[ ब ] खेतण, खेयण (ण); ज्ञ = ण

[ स ] खेत्तन्न, खेत्तण, खित्तण (त्त); त्र = त्त

[ द ] खेदन्न, खेदण (द); त्र = त = द

[ क ] अमुक रूपों में त = द = अ = य

- द. (1) 'क्षेत्रज्ञ' शब्द संस्कृत साहित्य में मिलता है और उसके अर्थ<sup>1</sup> इस प्रकार दिये गये हैं—  
क्षेत्र का जानकार, खेती का जानकार, निपुण, कुशल, आत्मज्ञ, स्व-चैतन्यज्ञ ।
- (2) पाइयसदमहण्णवो में खयन्न और खेअण्ण का संस्कृत रूप खेदज्ञ दिया गया है और उसके ये अर्थ दिये गए हैं—  
चतुर, जानकार, निपुण, कुशल । अन्य प्राकृत रूप जो ऊपर दर्शाये गये हैं उनका उल्लेख इस कोश में नहीं है ।
- (3) आगम शब्द-कोश, अंगसुत्ताणि, जैन विश्व भारती संस्करण में खेत्तण्ण और खेयण्ण दोनों शब्द संस्कृत रूपान्तर क्षेत्रज्ञ के साथ दिये गये हैं ।<sup>2</sup>

क. इस शब्द के त्रिषय में चूर्णिकार कहते हैं—खित्तं जाणति खित्तण्णो । खित्तं आगासं, खित्तं जाणतीति खित्तण्णो, तं तु आहारभूतं दव्वकालभावाणं अमुत्तं च पवुच्चति । मुत्तामुत्ताणि खित्तं च जाणंतो पाएण दव्वादीणि जाणइ । जो वा संसारियाणि दुक्खाणि जाणति सो खित्तण्णे पंडितो वा ।<sup>3</sup>

1. (अ) Sanskrit Dictionary by Monier Williams :—  
knowing localities, familiar with the cultivation of soil, clever, skilful, dexterous, cunning, knowing the body i. e. the soul, the conscious principle, etc.

(ब) क्षेत्रज्ञ=आत्मा (क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः) अमरकोषः—1/4/29. 3/3/33/

2. इसी लेख के विभाग ब (3) में 'खेत्तण्ण' शब्द पाठान्तर में आता है ।
3. आचारंगसुत्तं, महावीर जैन विद्यालय, पृ० 26, टिप्पण १; पृ० 39, टि० 10.

ख. आचारांग के टीकाकार क्षेत्रज्ञ का अधिकतर 'खेदज्ञ' से ही अर्थ समझाते हैं—निपुण के साथ अभ्यास, श्रम आदि अर्थ भी दिये गये हैं ( आगमो. पृ० 124 ) । कभी-कभी क्षेत्रज्ञ का अर्थ निपुणता भी समझाते हैं । शीलाकाचार्य (सू० 132 पर टीका ) खेदज्ञ का अर्थ इस प्रकार करते हैं—जन्तु दुःखपरिच्छेत्तभिः । वास्तव में मूल शब्द तो 'क्षेत्रज्ञ' ही था लेकिन बाद में बदलकर 'खेदज्ञ' भी बन गया । वैसे प्राकृत शब्द 'खेदण्ण' औद 'खेदन्न' कागज की प्रतों में ही अधिकतर मिलते हैं ।<sup>1</sup>

ग. महावीर जैन विद्यालय के संस्करण में क्षेत्रज्ञ शब्द के लिए जो प्राकृत रूप (पाठ) स्वीकृत किया गया है और विभिन्न प्रतों ( ताडपत्र और कागज ) से उसके जो पाठान्तर दिये गये हैं वे इस प्रकार हैं—

### स्वीकृत पाठ

### पाठान्तर और प्रत-परिचय

( आधारभूत प्रत एवं सूत्र सं० )

- |                          |   |
|--------------------------|---|
| 1. खेतण्ण० 32 खं. इ० चू० | खेतण्ण० सं, हे० 1, 2<br>खेयन्न, खेअन्न (अन्यत्र)    |
| 2. खेतण्ण—32 इ० चू०      | खेयन्न, खेअन्न (अन्यत्र)                            |
| 3. खेतण्ण—32 इ० चू०      | खेतण्ण सं, खं, हे० 1, 2<br>खेयन्न, खेअन्न (अन्यत्र) |
| 4. खेतण्ण—23 इ० चू०      | खेअन्न हे० 3, ला० जै, खेतण्ण<br>(अन्यत्र)           |

- 
1. वही, पृ० 26, टि० ४; पृ० 39 टि० 10 हे० 1, 2, 3 और ला० संशक प्रतिर्था) ।

5. खेतण्ण, 79 शां० खां० चू० खेतण्ण खं, जै, खेयण्ण सं, हे० 1, 2, 3, ला० 3, इ, चू०
  6. खेतण्ण 104 (सर्वत्र) यहाँ पर चूर्णि में खेतण्ण पाठ (पृ० 100 पंक्ति 1)
  7. खेतण्ण 176 खं० खेतण्ण खे, जै, इ, खेयण्ण (अन्यत्र)
  8. खेतण्ण 210 खं० खेतण्ण खे, जै, खेयण्ण (अन्यत्र)
  9. खेतण्ण 132 (अन्यत्र) खेअण्ण सं, खेदण्ण हे० 1, 2, 3 ला० खित्तण्ण चू०
  10. खेतण्ण 209, खे० जै० खेयण्ण (अन्यत्र)
  11. खेतण्ण 109 (अन्यत्र) खेतण्ण खं, खेयण्ण हे० 1,2,3 इ, शां०
  12. खेतण्ण 109 चू० (?) खेयण्ण शां, खे० जै० ला, इ० हे० 1, 2, 3, खेदण्ण सं० खं०
  13. खेतण्ण 109 (अन्यत्र) खेदण्ण खं०
  14. खेतण्ण 109 (अन्यत्र) खेयण्ण शां, हे० 2, 3, ला० इ० खेतण्ण चू०
  15. खेयण्ण 88 (अस्पष्ट) खित्तण्ण चू०, खेदन्न खेयन्न (प्रत्ययान्तरे)
  16. खेयण्ण 109 खेमू० चू० विना खेयन्न हे० 1, 2, 3 ला, जै, इ०
- च. संपादकों द्वारा किये गये पाठों की पसंदगी या चुनाव पर एक समालोचनात्मक दृष्टिपात —

(1) शुब्रिग महोदय की अपनी एक विशेषता रही है कि जिन पाठान्तरों को वे अपने सिद्धान्त के अनुकूल नहीं मानते हैं ऐसे पाठान्तरों का वे उल्लेख नहीं करते हैं। अतः उनके सामने कौन-कौन से और भी पाठान्तर रहे होंगे उनके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता जब तक उनके द्वारा उपयोग में लायी गयी सामग्री का पुनरावलोकन नहीं किया जाय। उन्होंने मात्र एक ही पाठान्तर 'खेत्तन्न' दिया है और उसे नहीं अपनाकर 'खेयन्न' को ही सब जगह अपनाया है। 'ज्ञ' के लिए 'न्न' को और 'त्र' के लिए 'त्त' या 'त' के बदले में 'य' को स्थान दिया है। संस्कृत रूपान्तरों के रूप में क्षेत्रज्ञ और खेदज्ञ दोनों शब्दों का उल्लेख उन्होंने टिप्पणियों में किया है।

च. 'क्षेत्रज्ञ' शब्द के ध्वनि सम्बन्धी अनेक प्राकृत रूपान्तरों को ऐति-

हासिक विकास की दृष्टि से निम्न प्रकार से समझाया जा सकता है :—

क्षेत्रज्ञ = खेत्तञ्ज—खेत्तन्न—खेतन्न—खेदन्न (खेदण्ण)—खेयन्न—खेयण्ण।

(1) **खेत्तञ्ज**—पालि, मागधी और पैशाची (की अवस्था) का शब्द (भाषा विशेष की दृष्टि से)।

प्रदेश की दृष्टि से पश्चिम, उत्तर-पश्चिम और दक्षिण में प्रयोग (अशोककालीन शिलालेखों के अनुसार)।

(2) **खेत्तन्न**—पूर्वी प्रदेश की लाक्षणिकता (अशोक के शिलालेखों के अनुसार)। जैन आगमों की प्रथम वाचना का स्थल पूर्व भारत में पाटलिपुत्र ही था यह एक महत्त्व का मुद्दा है।

(3) **खेतन्न**—मूल खेत्तन्न शब्द खेतन्न में बदल गया क्योंकि दीर्घ मात्रा के बाद आनेवाले संयुक्त व्यंजनों में से एक का वैकल्पिक लोप प्राकृत भाषा को मान्य है।

(4) **खेदन्न**—मगधदेश (पूर्व) से उत्तर-पश्चिम की ओर प्रयाण (धर्म का प्रसार) करने पर (मथुरा=शूरसेन प्रदेश में) त कार का द कार हो गया और खेतन्न शब्द खेदन्न में बदल गया। जैन आगमों की द्वितीय वाचना का स्थल मथुरा था और शौरसेनी में त का द होता है।

(5) **खेयण**—पुनः पश्चिमी प्रदेश (गुजरात-सौराष्ट्र) की ओर प्रस्थान करने पर खेदन्न शब्द का परिवर्तन खेयण में हो गया (मध्य-वर्ती अल्पप्राण का लोप, य श्रुति और तालव्य न का मूर्धन्य ण में परिवर्तन)। जैन आगमों की अन्तिम वाचना का स्थल वलभी (गुजरात) था।

इस तरह मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजन का लोप (और य श्रुति) तथा न का ण में परिवर्तन परवर्ती काल की और विशेषतः इसी क्षेत्र (पश्चिमी) की प्रवृत्तियाँ मानी गयी हैं जो काल और क्षेत्र की दृष्टि से (शिलालेखों के प्रमाणों पर आधारित) बिल्कुल उपयुक्त हैं।

इस प्रकार प्राचीन प्राकृत शब्द 'खेत्तन्न' (पूर्वी भारत में—मगध देश का प्राचीन रूप) परवर्ती काल के प्रभाव में आकर (पश्चिम भारत में) भले ही 'खेयण' में बदल गया हो और परवर्ती काल की प्रतों में 'खेयण' पाठ अधिकतर मिलता हो तब भी मूल और प्राचीन शब्द 'खेत्तन्न' ही है जो जैन आगम ग्रन्थों में प्रयुक्त होना चाहिए था।<sup>1</sup> इस दृष्टि से शुब्रिंग महोदय द्वारा अपनाया गया 'खेयन्न' शब्द-पाठ भी उचित नहीं ठहरता और न ही अन्य सम्पादकों का 'खेयण' शब्द-पाठ। चूर्णि के पाठों में त्त के स्थान पर क्वचित् ही य मिलता है जो विशेष ध्यान देने योग्य मुद्दा है।

1. मूलग्रंथ की प्रतियों में और चूर्णों में ऐसे पाठान्तर भी मिल रहे हैं तब उन प्राचीन पाठों को प्राथमिकता क्यों नहीं दी जानी चाहिए।



प्राकृत में होने वाले ध्वनि-परिवर्तनों के कारण जब यह शब्द 'खेत्तन्न' से 'खेदन्न' या 'खेदण्ण' (त = द, न = ण) की अवस्था से गुजरा तब ध्वनि-परिवर्तन-सम्बन्धी नियम तथा मूल परम्परा की स्मृति के ओझल हो जाने से उसको मूलतः 'खेद' समझ कर उसका उस रूप में अर्थ किया जाने लगा । जिस प्रकार 'मात्र' शब्द का 'मत्त'='मात'='माय' हो गया; पात्र का 'पाय', 'आत्म' का आत्त-आत-आय' हो गया उसी प्रकार 'खेत्त'का 'खेय' हुआ है । अतः इस शब्द का सम्बन्ध खेदज्ञ<sup>१</sup> के साथ जोड़ने की परम्परा परवर्ती है और उचित भी प्रतीत नहीं होती । पिशल ने तो (१७६) मात्र 'खेयन्न' शब्द ही दिया है और उसका संस्कृत रूपान्तर भी 'खेदज्ञ' ही दिया है जबकि उसी स्थल पर 'मायन्न' का रूपान्तर 'मात्रज्ञ' (संस्कृत) दिया है ।

इस सम्पूर्ण अन्वेषण और विश्लेषण का सार यही है कि अर्ध-नागधी भाषा में मूलतः खेत्तन्न शब्द ही था जो 'क्षेत्रज्ञ' अर्थात् आत्मज्ञ के साथ सम्बन्धित था, न कि 'खेदज्ञ' के साथ जो परवर्ती काल की देन है । बदलती हुई प्राकृत भाषा की ध्वनि-परिवर्तन की प्रवृत्ति के प्रभाव में आकर खेत्तन्न शब्द ने कालानुक्रम से अनेक रंग बदले या अनेक रूप धारण किये और वे सभी रूपान्तर आचारांग के अलग अलग संस्करणों में हमें आज भी मिल रहे हैं । कहने की आवश्यकता नहीं कि आगमों के नये संस्करण में 'खेत्तन्न' पाठ ही उचित, प्राचीन और यथायोग्य माना जाना चाहिए ।

इस प्रकार काल और क्षेत्र की दृष्टि से शब्द के अनेक रूपान्तर हुए और वे अलग अलग प्रतियों में और उनमें भी अलग-अलग रूप में

१. संस्कृत और पालि कोशों में 'खेदज्ञ' जैसा कोई शब्द नहीं मिलता है ।

तीन स्तरों में उपलब्ध हो रहे हैं। इन सबका कारण है विविध काल में स्थानिक प्रचलन (उपयोग) की भाषा का प्रभाव। यदि यह शब्द भगवान् महावीर के मुख से निकला हो अथवा उनके गणधरों ने इसे भाषाकीय रूप दिया हो अथवा पाटलिपुत्र की प्रथम वाचना (जैन आगमों की) का यह पाठ हो तब तो पूर्वी क्षेत्र के शिलालेखीय प्रमाणों के अनुसार 'खेत्तन्न' शब्द ही मौलिक एवं उपयुक्त माना जाना चाहिए। अगर यह मान्य नहीं हो तो मथुरा की दूसरी वाचना का शब्द (शौरसेनी रूप) खेदन्न या खेदण्ण ही उपयुक्त हो सकता है। यदि यह भी मान्य नहीं हो तो तीसरी वाचना अर्थात् बलभी का शब्द खेयण्ण ही माना जाना चाहिए। इस तरह तो फलित यही होगा कि पू० देवर्धिगणि ने आगमों की रचना की है और उनकी भाषा में मागधी प्राकृत के स्थान पर महाराष्ट्री प्राकृत का ही प्रभुत्व है। परन्तु प्रश्न यह है कि एक काल की किसी भी रचना में पूर्ववर्ती काल के अलग अलग वर्तनी वाले शब्द कैसे आ सकते हैं। इसका समाधान यही हो सकता है कि यदि प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना प्राचीन है और वह पूर्वी प्रदेश (मगध देश) की है तब तो मात्र 'खेत्तन्न' शब्द—रूप ही उपयुक्त माना जाना चाहिए और उसी शब्द का प्रयोग आचारांग में सर्वत्र किया जाना चाहिए। भाषा विज्ञान के अनुसार और ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से यही निर्णय उपयुक्त ठहरता है। योगानुयोग कैसा प्रमाण मिल रहा है कि सूत्रकृतांग (म. जै. त्रि.) के द्वितीय श्रुत—स्कंध में 'अखेत्तण्ण' (642), 'खेत्तन्न' (680) और 'अखेत्तन्न' (641) मुद्रित पाठ मिल रहे हैं। क्या अन्तिम पाठ 'खेत्तन्न' शब्द की ही पुष्टि नहीं करता है ?

## ७. आचारांग के उपोद्घात के वाक्य का पाठ

पू. गणधर श्री सुधर्मास्वामीने भगवान महावीर के मुख से जो उपदेश सुने उन्हें अपने शिष्य जम्बूस्वामी को हस्तान्तरित करते (मौखिक परम्परा से) हुए वे फरमाते हैं (आचारांग, प्रथम श्रुत-स्कंध, प्रथम अध्ययन, प्रथम उद्देशक का प्रारंभ) :-

**‘सुयं मे आउसं ! तेणं (तेण-चर्णी का पाठान्तर भी) भगवया एवमक्खायं.....!’**

इस उपोद्घात के वाक्यमें संदर्भ की दृष्टि से दो शब्द ‘आउसं’ और ‘तेणं’ तथा भाषाकीय दृष्टि से तीन शब्द ‘सुयं’ ‘भगवया’ और ‘अक्खायं’ पर विचार किया जा सकता है ।

यदि यह वाक्य कथनकी एक प्रणाली प्रस्थापित करने के लिए सुधर्मा स्वामी के बाद बहुत लम्बे अर्से के पश्चात् जोड़ा गया हो तब तो इसके बारेमें कुछ भी कहने को नहीं रह जाता परंतु आगमों की प्रथम वाचना (यानि चौथी शताब्दी ई. स. पूर्व) से ही यदि यह वाक्य विद्यमान था तब तो अवश्य विचारणीय बन जाता है ।

सुधर्मा स्वामी, भ. महावीर के शिष्य थे और जम्बूस्वामी सुधर्मा स्वामी के । भ. महावीर सुधर्मास्वामी के लिए समय की दृष्टि से बहुत दूर के उपदेशक गुरु नहीं थे इसलिए उन्हें भ. महावीर के लिए ऐसा<sup>1</sup> प्रयोग करना पड़े कि उस भगवान महावीर ने (तेणं भगवया) ऐसा कहा । अन्तरालके वर्षों की अवधि अधिक होती और कोई घटना बहुत पुरानी होती तब तो ऐसा प्रयोग उचित लगता

---

1. इस दृष्टि से विचार करने के लिए प्रो. एम. ए. दाकी, बनारस का मैं आभारी हूँ ।

अन्यथा यह प्रयोग योग्य नहीं लगता है ।

आचारांग के टीकाकार भी इस प्रयोग के बारे में एक मत नहीं हैं । चूर्णीकार (पृ-9) 'आउसं तेण' के स्थान पर 'आउसंतेण' पाठकी भी संभावना करते हैं और लिखते हैं—अहवा आउसंतेण, जीवता कहितं अथवा आउसंतेण गुरुकुलवासं अहवा आउसंतेण सामिपादा विणयपुव्वो सिस्सायरियकमो दरिसिओ होइ आवसंत आउसंतगगहणेण ।

शीलांकाचार्य (पृ. 11) 'श्रुतं मया आयुष्मन्' का अर्थ समझाते हुए बतलाते हैं—'मयेति साक्षान्न पुनः पारम्पर्येण' यानि मैने साक्षात् रूपसे न कि परम्परा से सुना । आगे पुनः वे कहते हैं—'यदि वा आमृशता भगवत्पादारविन्दम् ..... आवसता वा तदन्तिक इत्यनेन गुरुकुलवासः कर्तव्य इत्यावेदितं भवति, एतच्चार्यद्वयं 'आमुसंतेण आवसंतेण' त्येतत्पाठान्तरमाश्रित्यावगन्तव्यमिति । इस प्रकार समझाया जाने पर यही उचित लगता है कि सुधर्मास्वामीने भगवान महावीर के पास रहते हुए यह उपदेश सुना । इस दृष्टि से 'आउसंतेण' पाठ ही<sup>2</sup> उपयुक्त लगता है । आचारांग के द्वितीय श्रुत-स्कंध में (म.जै.वि) भी ऐसा ही पाठ मिलता है—'सुयं मे आउसंतेण भगवया एवमक्खायं' सूत्र 635 । चूर्णीका भी यही पाठ है और उसमें 'भगवया' के स्थान पर 'भगवता' पाठ है । (म. जै. वि. पाद टिप्पण 2 पृ. 227.)

2. संशोधन के लिए तीन प्रकार के शब्दरूप मिलते हैं—आउसं, आउसो और आउसतो । आउसो एकवचन के लिए, आउसंतो बहुवचन के लिए या सम्मानार्थ एकवचन के लिए । एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि जहाँ पर भी 'आउसं' का प्रयोग है उसके आगे 'तेण' शब्द मिलता है, अतः आउसंतेण में से ही आउसं और तेण परवर्ती काल में अलग हो गये हैं और इस प्रयोग के पहले 'सुयं' में भी मिलता है अर्थात् 'सुयं मे आउसंतेण' ही होना चाहिए था ।

अन्य संदर्भ :-

किसी अन्य संदर्भ में भिक्षु द्वारा गाथापति एवं गाथापति द्वारा भिक्षु को संबोधित करने के लिए आचारांग के ही प्रथम श्रुत-स्कंध के आठवें अध्ययन में 'आउसंतो' शब्द के प्रयोग मिलते हैं (आउसंतो गाहावती 8. 2. 204; 8 5. 218; आउसंतो समणा 8. 3. 211) । इन प्रयोगों को देखते हुए तथा सूत्रकृतांग में सम्बोधन के लिए 'आउसो' का प्रयोग देखते हुए (वच्चघरं च आउसो खणाहि 1. 4. 2. 13) 'आउसं' का प्रयोग कितना उचित है, यह विचारणीय बन जाता है जब ऐसे ही प्रयोग आचारांग और सूत्रकृतांग में अनेक स्थलों पर मिलते हैं ।

(1) आचारांग के प्रयोग (प्रथम श्रुत-स्कंध) :-आउसंतो गाहावती 1. 8. 2. 204, आउसंतो समणा 1. 8. 3. 211 आउसो 1. 8. 2. 204 । इसी प्रकार द्वितीय श्रुत स्कंध में बीसों ऐसे प्रयोग (2. 1. 9. 396, 399 इत्यादि) मिलते हैं (देखिए शब्द सूची) ।

(2) सूत्र कृतांग के प्रयोग:- आउसो 1. 3. 3. 198, अहाउसो 2 6. 837, अयमाउसो 2. 1. 649, समणाउसो 2. 1. 644, आउसंतो 2 7. 845, 846, 848, 851 इत्यादि । आउसो और आउसंतो के इसमें भी बीसों प्रयोग मिलते हैं ।

इस प्रकार के प्रयोग अन्य ग्रंथों में भी मिलते हैं । एवामेव समणाउसो ! जे अम्हं निगंथो वा.....। (अ. 4, पृ 67; अ. 5, पृ 82; अ. 7, पृ 89. नायाघम्मकहाओ, एन. वी. वैद्य) । इसिभासियाइं के उदाहरण— अ. 10 पृ. 23. 5, ॥ (शु.)

आउसो ! तेतलिपुत्ता ! एहि ता आयाणाहि, पृ. 23. 5

आउसो ! तेतलिपुत्ता ! कत्तो वयामो पृ. 23. 11.

पालि त्रिपिटक साहित्य में भी सम्बोधन के लिए 'आवुसो'<sup>13</sup> शब्द का प्रयोग मिलता है। इसमें 'य' का 'व' हुआ है जैसे 'आयुध=आवुध'। आवुसो रूप व. व. आयुस्मन्तो का संकुचित रूप माना गया है। नियमित रूप आयुस्मन्त् माना गया है।

अब 'सुयं', 'भगवया' और 'अक्खायं' शब्दों में आनेवाले वर्ण विकारों पर विचार किया जाय। प्रथम और तृतीय शब्द भूतकृदन्त हैं तथा द्वितीय शब्द तृतीया एकवचन का रूप है। आचारांग में ही प्राप्त होनेवाले इसी प्रकार के प्रयोगों को देखते हुए इनमें जो ध्वनि-विकार आ गया है वह उपयुक्त नहीं लगता। आचारांग के (म. जै. वि.) प्रथम श्रुत-स्कंध के कुछ प्रयोग इस प्रकार हैं :—

1. अहासुतं वदिस्सामि 1. 9. 1. 254
2. (क) भगवता परिण्णा पवेदिता 1. 1. 1. 7; 2. 13; 3. 24; 4. 35; 5. 43; 6. 51; 7. 58  
(ख) भगवता पवेदितं 1. 2. 5. 89; 6. 3. 197; 8. 4. 214; 8. 5. 217; 8. 5. 219; 8. 6. 22', 223;  
(ग) माहणेण मत्तीमता 1. 9. 1. 276; 9. 2. 292; 9. 3. 306; 9. 4. 323.
3. (क) एस मग्गो आरिण्हि पवेदिते 1. 2. 2. 74  
(ख) सुणिणा हु एतं पवेदितं 1. 5. 4. 164  
(ग) जं जिणेहि पवेदित 1. 5. 1. 168  
(घ) पवेदितं माहणेणं 1. 8. 1. 202  
(ङ) बुद्धेहि एवं पवेदितं 1. 8. 2. 206

3. द्रष्टव्य :— पालि त्रिपिटक कन्कोडेन्स, पृ 345; मूळाराधना की विजयोदया-टीका में पाठ इस प्रकार है—'सुदं मे आयुस्सन्तो ! भगवदा एवमवत्ताद' आत्ता प्रस्तावना पृ. 36, म. जै. वि, 1977.

(च) णायपुत्तेण साहिते 1. 8. 8 240

(छ) चरियासणाइं ..... जाओ बूइताओ । आइक्खह  
ताइं .....॥ 1. 9. 2. 277

इस प्रकार 'सुत, पवेदित, साहित, बूइत और भगवता, मतीमता आदि कितने ही प्रयोग स्वयं आचा. प्रथम श्रुत स्कंध में ही प्राप्त हो रहे हैं । इस दृष्टि से उपोद्घात का वाक्य इस प्रकार होना चाहिए था ..... ।

### ‘सुतं मे आउसंतेण भगवता एवमक्खातं’

इसी संदर्भ में ‘इसिभासियाइं’ के प्रयोगों पर ध्यान दीजिए । इसिभासियाइं ग्रंथ शुब्रिग महोदय द्वारा ही संपादित किया गया है । उसमें हरेक अध्ययन के प्रारंभ में ऋषि के नाम के साथ “..... अरहता इसिणा बुइतं” वाक्यांश का प्रयोग मिलता है । 43 बार ‘अरहता’ का प्रयोग है और 37 बार ‘बुइतं’ और 7 बार ‘बुइयं’ का प्रयोग मिलता है ।

तुलना कीजिए आचारांग के  
‘भगवया. .... अक्खायं’ की  
इसिभासियाइं के  
‘अरहता.....बुइतं’ के साथ ।

मूर्धन्य विद्वानों के द्वारा इसिभासियाइं उतना ही पुराना माना गया है जितना आगमों के चार ग्रंथ — आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन और दशवैकालिक । तब फिर भाषा में इतना अन्तर क्यों ? इस दृष्टि से तो आचारांग का सही और प्राचीन पाठ होगा

### —‘सुतं मे आउसंतेण भगवता एवमक्खातं’

और इसी पाठ की पुष्टि सूत्रकृतांग के निम्न पाठों से हो रही है ।

[ I ] सुयं मे आउसंतेण भगवता एवमक्खायं 2. 1. 638

[ II ] सुतं मे आउसंतेणं भगवता एवमक्खातं 2. 2. 694

जहां तक मध्यवर्ती दन्त्य न के लिए मूर्धन्य ण का प्रश्न है यह भी दन्त्य नकार ही होना चाहिए था । न को ण में बदलने की प्रथा ईस्वी सन्के बाद की और वह भी मुख्य तौर से दक्षिण, पश्चिम और उत्तर पच्छिम भारत की रही है जैसा कि अशोक के शिलालेखों और उसके बाद के शिलालेखों से प्रमाणित हो रहा है ।



## ८. मूल अर्धमागधी की पुनः रचना : एक प्रयत्न\*

जैन अर्धमागधी आगम साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध के चौथे अव्ययन के प्रथम उद्देशक में अहिंसा धर्म के विषय में भगवान महावीर का उपदेश इस प्रकार है—

“सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हंतव्वा,  
न अज्जावेतव्वा, न परिघेत्तव्वा, न परितावेयव्वा, न उद्वेयव्वा ।”

अर्थात् किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए और न ही उसे किसी भी प्रकार से पीड़ित करना चाहिए ।

“यही शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म है जो आत्मज्ञों के द्वारा उपदिष्ट है ।” भगवान महावीर की इसी वाणी को अर्धमागधी भाषा के विभिन्न संस्करणों में निम्न प्रकार से संपादित किया गया है—

(i) शुब्रिंग — (1.4.1) एस धम्मे सुद्धे नितिए सासए समेच्च लोयं खेयन्नेहिं पवेइए ।

(ii) आगमोदय — (1.4.1.126) एस धम्मे सुद्धे निइए समिच्च लोयं खेयण्णेहिं पवेइए ।

(iii) जैन विश्व भारती — (1.4.1.2) एस धम्मे सुद्धे णिइए सासए समिच्च लोयं खेयण्णेहिं पवेइए ।

(iv) म. जै. विद्यालय — (1.4.1.132) एस धम्मे सुद्धे णितिए सासए समेच्च लोयं खेतण्णेहिं पवेदिते ।

इन चारों पाठों में जो शब्द प्रयुक्त हैं उनमें से निम्न शब्द-रूप एक समान नहीं हैं—

\* 'वार्हमय' जिल्द ३, गुज. साहित्य अकादमी, गांधीनगर, 1990 से साभार प्रस्तुत

संस्कृत	शु.	आगमो.	जैविभा.	म.जै.वि.
1. नित्य =	नितिए	निइए	णिइए	णितिए
2. समेत्य =	समेच्च	समिच्च	समिच्च	समेच्च
3. लोकम् =	लोगं	लयं	लयं	लयं
4. क्षेत्रज्ञैः =	खेयन्नेहिं	खेयण्णेहिं	खेयण्णेहिं	खेतण्णेहिं
5. प्रवेदितः =	पवेइए	पवेइए	पवेइए	पवेदिते

स्पष्ट है कि अपने अपने भाषाकीय सिद्धान्तों की मान्यता के अनुसार (न कि प्राकृत भाषा के ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से और न ही समय, क्षेत्र और उपदेशक की वाणी के स्वरूप को ध्यान में लेकर) और प्राकृत व्याकरणकारों के नियमों के प्रभाव में आकर (जो न तो काल की दृष्टि से ऐतिहासिक हैं और न अर्धमागधी भाषा की विशेषताओं को स्पष्ट करते हैं) अलग अलग पाठों को स्वीकार किया है जिसके कारण शब्दों की वर्तनी में कितना अन्तर आया है और यह अन्तर क्यों आया उसे ही समझना आवश्यक है ।

(1) किसी संपादक ने संयुक्त व्यंजन के पहले ए का इ कर दिया है, समिच्च (समेच्च) ।

(2) किसी ने त का, तो किसी ने द का लोप कर दिया है, नितिए, निइए, पवेदिते, पवेइए ।

(3) किसी ने प्रारंभिक न का ण कर दिया है, नितिए, णिइए, णितिए ।

(4) किसी ने क का लोप किया तो किसी ने क का ग कर दिया, लोयं, लोगं । लोय में उद्धृत स्वर की य श्रुति है ।

(5) किसी ने ज्ञ का न्न, तो किसी ने ज्ञ का ण्ण कर दिया है, खेयन्न; खेयण्ण ।

(6) किसी ने त्र का त किया तो किसी ने त्र का य किया अथवा

(7) किसी ने द (खेदज्ञ से) का त किया तो किसी ने द का य कर दिया है।

(8) इस प्रकार के परिवर्तनों से ऐसा मालूम होता है कि हरेक संपादक की अर्धमागधी भाषा के विषय में अलग अलग धारणा बनी हुई है।

(9) इसका मुख्य कारण यही है कि अर्धमागधी भाषा का व्याकरण किसी भी व्याकरणकार से हमें स्पष्टतः प्राप्त ही नहीं हुआ है।

इन सभी परिवर्तनों पर विचार किया जाय और उनकी समीक्षा तथा आलोचना की जाय तो अवश्य कुछ न कुछ समझ में आएगा कि इस प्रकार की विभिन्नता कैसे आ गयी। शब्दों में प्राप्त ध्वनिगत परिवर्तनों से तो ऐसा प्रतीत होता है कि —

(1) 'पवेदित' शब्द में किसी को पालि भाषा का आभास होता होगा इसलिए पवेदिअ ही स्वीकारना उचित लगा हो।

(2) 'खेतण्ण' और 'नितिय' में 'त' श्रुति की शंका हो गई हो इसलिए 'खेयण्ण' और 'निइअ' ही स्वीकार किया गया हो।

(3) प्रायः लोप के नियम से प्रेरित होकर त और द का लोप करना उचित मानकर पवेइअ को स्वीकार किया हो।

(4) ज्ञ का न्न अयोग्य समझकर व्याकरण के नियम से ण्ण कर दिया गया हो।

इन स्वीकृत पाठों में—

(1) पालि भी है — पवेदित,

(2) पालि और अर्धमागधी भी है — समेच्च,

(3) अर्धमागधी भी है — लो० और

(4) महाराष्ट्री भी है — लो०, णिइए, खेयण्ण ।

(5) भाषा—संबंधी दूसरी ओर अशोक के समय की पूर्वी क्षेत्र की विशेषताएँ भी हैं — लो०, नितिए और (खेय)न्ने(हिं) जैसे शब्दों में ।

(6) इस प्रकार के विश्लेषण से यह तो भाषाओं की खीचड़ी हो ऐसा प्रतीत होता है ।

हरेक सम्पादक के पास जो भी सम्पादकीय सामग्री (हस्तप्रते) थी उनमें पाठान्तर भी मौजूद थे परन्तु उनमें से अमुक अमुक पाठान्तरों को छोड़ दिया गया है । वास्तव में ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से उन पाठों में से किसी एक में मूल भाषा की प्राचीनता सुरक्षित रह भी गयी हो ? उदाहरणार्थ—

(1) शुब्रिंग महोदय द्वारा उपयोग में ली गयी सामग्री में से चूर्णि और 'जी' संज्ञक प्रत में 'खेत्तन्नेहिं' पाठ उपलब्ध था ।

(2) जैन विश्व भारती की 'च' संज्ञक प्रत में 'खेत्तन्नेहिं' पाठ था ।

(3) म. जै. वि. के संस्करण में उपयोग में ली गयी चूर्णि में 'खित्तण्ण' पाठ था ।

(4) ऐसी अवस्था में 'खेत्तन्न' शब्द को अपने प्राचीन मूल रूप में नहीं अपना कर 'खेयन्न' या 'खेयण्ण' क्यों अपनाया गया जब भाषाकीय विकास की दृष्टि से ये दोनों ही रूप परवर्ती हैं— पहले खेयन्न और बाद में खेयण्ण ।

शुक्रिग महोदय ने मात्र एक ही रूप 'खेयन्न' को आचारांग (प्र. श्रुतस्कंध) में सर्वत्र अपनाया है परन्तु जै. वि. भा. के संस्करण में 'खेयण्ण' भी मिलता है, आगमोदय समिति के संस्करण में भी खेयण्ण भी मिलता है और म. जै. वि. के संस्करण—में खेयण्ण, खेतण्ण और खेत्तण्ण तो मिलते हैं परन्तु खेयन्न नहीं मिलता है। इस शब्द का संस्कृत रूप 'क्षेत्रज्ञ' है जिसका अर्थ है 'आत्मज्ञ' और इस खेयन्न का परवर्ती काल में टीकाकारों ने 'खेदज्ञ' के साथ जो संबंध जोड़ा है वह काल्पनिक है और (मूल भाषा को न समझने से भ्रान्ति के कारण) कृत्रिम परिभाषा देकर उसे (तोड़ मरोड़ कर) समझाने का प्रयत्न किया गया है जिससे तुरन्त मध्यवर्ती द का लोप और य श्रुति से द का य हो जाता है। यह तो मात्र=माय और पात्र=पाय जैसा परिवर्तन हुआ और आत्म=अत्त=आत=आय जैसा विकास है।

(1) अतः क्षेत्रज्ञ में त्र के स्थान पर द लाने की जरूरत नहीं थी।

(2) प्राचीन प्राकृत भाषा में त्र का त ही हुआ था न कि 'त' या 'य'।

(3) अशोक के पूर्वी क्षेत्र के शिलालेखों में ज्ञ का न्न है, न कि ण्ण।

(4) सामान्यतः न्न का ण्ण ई. स. के बाद में प्रचलन में आया है और वह भी दक्षिण और उत्तर पश्चिम क्षेत्र से।

(5) न्न = ण्ण पूर्णतः महाराष्ट्री प्राकृत की ध्वनि है न कि पालि मागधी, पैशाची या शौरसेनी की।

(6) अतः मूल अर्धमागधी भाषा में न्न = ण्ण का प्रयोग करना उस भाषा को जबरदस्ती से या जाने अनजाने महाराष्ट्री भाषा में बदलने के समान है और क्या यह मूल अर्धमागधी भाषा के लक्षणों की अनभिज्ञता के कारण ही ऐसा नहीं हुआ है और हो रहा है।

(7) शुद्धिग महोदयने ज्ञ के लिए सर्वत्र न्न ही अपनाया है परन्तु त्र के स्थान पर य को स्थान देकर तथा त्त का त्याग करके उन्होंने अनुपयुक्त पाठ अपनाया है। वे स्वयं भी 'खेदज्ञ' शब्द से प्रभावित हुए हैं ऐसा लगे बिना नहीं रहता। उन्होंने नित्य के स्थान पर नितिय अपनाया है वह प्राचीन भी है और बिलकुल उचित भी है, निइय और णिइय तो बिलकुल कृत्रिम है और मात्र मध्यवर्ती त के लोप का अक्षरशः पालन किया गया हो ऐसा लगता है।

(8) आश्चर्य है कि पिशल के व्याकरण में न तो नितिय (जो प्राचीन है) शब्द मिलता है और न ही णिइय, निइय।

(9) प्राचीन शिलालेखों और प्राचीन प्राकृत में स्वरभक्ति का प्रचलन है, जैसे-क्य = किय, त्य = तिय, व्य = विय, इत्यादि और ऐसे संयुक्त व्यंजनों में समीकरण बाद में आया है।

(10) समेच्च के बदले में समिच्च अर्थात् ए के स्थान पर इ का प्रयोग (संयुक्त व्यंजनों के पहले) भी न तो सर्वत्र मिलेगा और न ही प्राचीनता का लक्षण है।

(11) क = ग के प्रयोगों से अर्धमागधी साहित्य भरा पड़ा है। क का ग भी पूर्वी क्षेत्र का (अशोक के शिलालेख) लक्षण है। क का लोप महाराष्ट्री का सामान्य लक्षण है और यह लोप की प्रवृत्ति काफी परवर्ती है। पवेदित में से द और त का लोप भी परवर्ती प्राकृत का लक्षण है। शौरसेनी और मागधी में तो द प्रायः यथावत् ही रहता है और पालि तथा पैशाची में त भी।

(12) अर्धमागधी का सम्बन्ध मागधी से अधिक है न कि

महाराष्ट्री से उसके नाम में मागधी शब्द ही उसकी प्राचीनता का बोध कराता है ।

(13) इस दृष्टि से जैन आगमों के प्राचीन अंशों में जो जो प्राचीन रूप (नामिक, क्रियापदिक तथा कृदंत) मिलते हैं वे उसे पालि भाषा के समीप ले जाते हैं न कि महाराष्ट्री प्राकृत के निकट ।

(14) मूलतः अर्धमागधी भाषा मागधी और महाराष्ट्री का मिश्रण नहीं थी यह तो परवर्ती प्रक्रिया की विकृति है ।

अतः चर्चा का उपर्युक्त वाक्य यदि भगवान महावीर के समय का है, उनके मुख से निकली हुई वाणी है या उनके गणधरों द्वारा उसे भाषाकीय स्वरूप दिया गया है तब तो उसका पाठ इस प्रकार होना चाहिए—

**एस धम्मे सुद्धे नितिए सासते' समेच्च लोगं खेत्तन्नेहि<sup>२</sup>  
पवेदिते ।**

यदि यह वाणी भ. महावीर के मुख से प्रसृत नहीं हुई है या गणधरों की भाषा में प्रस्तुत नहीं की गयी है या ई. सन् पू. चतुर्थ शताब्दी की प्रथम वाचना का पाठ नहीं है परन्तु तीसरी और अन्तिम वाचना में पूज्य देवर्धिगणि (पाँचवी-छठी शताब्दी) के समय में इसे अन्तिम रूप दिया गया हो या उन्होने ही श्रुत की रचना की हो तब तो हमारे लिए चर्चा का कोई प्रश्न ही नहीं बनता है और जो भी पाठ जिसको अपनाना है वह अपना सकता है ।

1,2 = [तृ ब. व. की विभक्ति 'हि' के बदले 'हिं' भी परवर्ती है । सासते : से 'त' का लोप भी अयोग्य लगता है । इसिभासियाइ' जैसा प्राचीन ग्रंथ मध्यवर्ती त से भरा पड़ा है ।

# विषय सूची

## अध्याय — १

पृष्ठ

- (क) अर्धमागधो आगम-ग्रंथों के पाठ बदल जाना: पू. मुनि श्री पुण्यविजयजी का अभिप्राय 1
- (ख) प्राचीन भाषा में कालान्तर से आगत परिवर्तनों के कतिपय उदाहरण; जीवित, क्षेत्रज्ञ, आत्मन्, मोक्ष आदि शब्द; वैदिक व्यंजन ल, सुत में भगवता 8
- आचारांग की हस्तपत्रों में परवर्ती काल के पाठ 6
- आचारांग की चूर्णि और सुत्तनिपात के पाठ 7
- (ग) शुत्रिग महोदय और श्री जंबूविजयजी के आचारांग के संस्करणों की विशेषताएँ 7
- (घ) विभिन्न संस्करणों में अलग अलग ध्वनि-परिवर्तन वाले शब्द और प्रत्यय आचारांग, सूत्रकृतांग, इसिभासियाइ, उत्तराध्ययन, आचारांग-नियुक्ति, मूलाराधना की टीका 9
- (च) एवं (छ) एक ही संस्करण में अलग-अलग शब्द पाठ आचारांग के विभिन्न संस्करण-शुत्रिग, आगमोदय, जै. वि. भा., म. जै. वि ; इत्थीपरिन्ना (आत्सडफ) 17
- एक ही वाक्य में तीन स्तरों के शब्द 19
- आचारांग और आवश्यक सूत्र में समान शब्दों में ध्वनि-भेद 20
- 21
- (ज) शुत्रिग महोदय द्वारा ही संपादित आचारांग और इसिभासियाइ के शब्द-पाठों में अन्तर 22
- अलग अलग सम्पादकों की अलग अलग पद्धति
- (ट) शुत्रिग के आचारांग और इसिभासियाइ में मध्यवर्ती त के लोप या यथास्थिति के विषय में अत्यधिक अन्तर 23
- (ठ) प्रारंभिक दन्त्य नकार और श के लिए न या ण 25
- (ड) प्राचीन शब्द-रूप नहीं अपनाया जाना 26
- उत्तराध्ययन, आचारांग, इत्थीपरिन्ना
- आचारांग के विभिन्न संस्करण, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन



- अर्वाचीन प्रतेां में उपलब्ध प्राचीन पाठ अस्वीकृत 31
- मूल ग्रंथ में परवर्ती पाठ जबकि वृत्ति में प्राचीन पाठ  
कभी प्राचीन तो कभी परवर्ती पाठ  
तत्कालीन लोक प्रचलित रूप छोड़ दिया जाना
- (द) उत्तरवर्ती सम्पादकों द्वारा पूर्ववती संस्करणों से प्राचीन शब्द रूप  
अस्वीकृत 32
- आचारांग, सूत्रकृतांग
- (ण) मूल उपदेशक की भाषा परवर्ती काल की जबकि उसके संग्रहकर्ता की  
भाषा में प्राचीनता 32
- उपसंहार 33
- अध्याय - २**
- (क) मध्यवर्ती व्यंजनों के लोप के बदले में घोषीकरण 35
- क=ग, ख=घ, च=ज, त=द थ=ध
- (ख) अमुक अमुक संयुक्त व्यंजनों के समीकरण के बदले में स्वरभक्ति 37
- (ग) आत्मन् के लिए अत्ता के प्रयोग
- (घ) दन्त्य नकारयुक्त असामान्य संयुक्त व्यंजन 38
- (च) प्रथम पुरुष सर्वनाम के प्रथमा बहुवचन का रूप 'वयं'
- (छ) व्यंजनांत शब्दों के तृतीया एक वचन के कुछ प्राचीन प्रयोग 39
- (ज) तृ. व. व. की विभक्ति - भि वाले रूप
- (झ) चतुर्थी ए. व. के - आय विभक्ति वाले रूप 40
- (ट) क्रियाविशेषण के रूप में पंचमी एक वचन के प्राचीन प्रयोग
- (ठ) वर्तमान कृदन्त के और व्यंजनांत शब्दों के षष्ठी एक वचन के रूप
- (ड) सप्तमी एक वचन की प्राचीन विभक्ति - ग्हि, - ग्हि और - स्सि 41
- (ढ) कुछ और प्राचीन रूप
- (ण) पालि के समान छीलिंगी एक वचन की विभक्तियाँ - य, - या और  
अशोक के शिलालेखों के समान - ये विभक्ति 43
- (त) भूत काल के प्राचीन प्रत्ययों वाले प्रयोग 44
- (थ) त्रिधिलिंग के लिए प्राचीन प्रत्ययों वाले प्रयोग 45
- (द) संबंधक भूतकृदन्त के प्राचीन रूप 47
- (ध) वर्तमान कृदन्त के प्राचीन प्रयोग 48

- (न) हेत्वर्थक कृदन्त का प्राचीन प्रत्यय - त्तए  
 (प) एक वैदिक क्रियाविशेषण 49  
 (फ) अमुक धातुओं के प्राचीन रूपों के प्रयोग : भू, भू, प्राप्, कृ

अध्याय-३

- 1 अर्धमागधी भाषा में अशोककालीन भाषा के लक्षण  
 (क) यथा = अहा और यावत् = आव 53  
 (ख) मति = मुति 55  
 (ग) चतुर्थी एक वचन की विभक्ति - आवे  
 (घ) वर्तमान कृदन्त का प्रत्यय - मीन 56  
 (च) संबधक भूतकृदन्त का प्रत्यय - तु 57  
 2 अर्धमागधी भाषा में भारत के पूर्वी क्षेत्र (अशोक कालीन) के लक्षण  
 (छ) र = ल 59  
 (ज) क = ग 60  
 (झ) सामंत शब्द का प्रयोग समीप के अर्थ में 61  
 (ट) यकारयुक्त संयुक्त व्यंजनों में स्वरभक्ति 62  
 (ठ) -अः = ए के प्रयोग 63  
 पुरस् = पुरे, अधस् = अवे, हेहा, नामतः = नामते, नः = णे  
 (अस्माकम्)  
 (ड) अकस्मात् शब्द का प्रयोग 64  
 (ढ) कृ धातु के सं. भू. कृ. कद्दु का प्रयोग 66

अध्याय-४

आचार्य हेमचन्द्र द्वारा

- (1) आष की विशेषताओं का उल्लेख 71  
 (2) अमुक विशेषताओं का उल्लेख ही नहीं 77

अध्याय-५

प्राचीन अर्धमागधी प्राकृत की मुख्य लाक्षणिकताएँ 80

अध्याय-६

क्षेत्रज्ञ शब्द के विविध प्राकृत रूपों की चर्चा 85

- (1) खेयन्न, खेयण्ण, खेतण्ण, खेतण्ण, खेतन्न, खित्तण्ण, खेदन्न, खेदण्ण
- (2) स्वीकृत पाठ और पाठान्तर 88
- (3) शब्द का ऐतिहासिक विकास  
खेतञ्ज, खेतन्न, खेतन्न, खेदन्न, खेयण्ण 90

#### अध्याय-७

- (1) 'सुपं मे आउणं तेणं भगवथा एवमस्खायं' वाक्य के हर शब्द के पाठ पर चर्चा. 94
- (2) प्राचीन उपलब्ध पाठ 'हुतं मे आउसंतेण भगवता एवमस्खात' 98

#### अध्याय-८

- (1) प्रस्तुत वाक्य के हरेक शब्द के विभिन्न पाठों पर चर्चा : 100
- (2) "एस धम्मे सुद्धे नितिए सासते समेच्च लोमं खेतन्नेहि पवेदिते" 106

## संदर्भ ग्रंथ

1. अंगसुत्ताणि (आचारांग, आदि), जैन विश्व भारती, लाडनू, सं. 2031
2. आचारांग चूर्णि, — श्री ऋषभदेव केशरीमल, रतलाम 1941 और मुनि पुण्यविजयजी द्वारा संशोधित पाठयुक्त, ला. द. भा. सं. वि. मंदिर में पंजीकृत संख्या प. 15880.
3. आचाराङ्ग सूत्र, वाल्थेर शुब्रिंग, लीपजिग 1910
4. आचाराङ्ग सूत्रम्-नियुक्ति एवं वृत्ति, आगमोदय समिति, मेहेसाणा, 1916
5. आचारंगसुत्तं, मुनि जम्बूविजयजी, म. जै. वि., बम्बई 1977.
6. आचारो, मुनि नथमल, युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती लाडनू, सं. 2031
7. इत्थीपरिन्ना vide Ludwig Alsdorf, Kleine Schriften, Wiesbaden. 1974
8. इक्षिभासियाइ, W. Schubring, L.D. Indology, Ahmedabad, 1974.
9. इक्षिभासियाइ : देखो पदहण्यसुत्ताइ
10. उत्तराध्ययनसूत्र, जे. शापेण्टियर, अजय बुक सर्विस, न्यू देहली, 1980.
11. कल्पसूत्र मुनि पुण्यविजयजी, साराभाई मणिलाल नवान (गुजराती) ई. स. 1952
12. चित्तसंभूत vide Ludwig Alsdorf, Kleine Schriften, Wiesbaden, 1974 (p. 186)
13. दसवेयास्तियसुत्तं, उत्तरञ्जयणाइ, आवस्सयसुत्तं, मुनि पुण्यविजयजी, म. जै. वि. बम्बई, 1977
14. पदहण्यसुत्ताइ, प्रथमो भागः, मुनि पुण्यविजयजी, म. जै. वि, बम्बई, 1984
15. पाइय-सह-महण्योः पं. हरगोविन्ददास सेठ, प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी 1963
16. प्राकृत व्याकरण (गुजराती), पं. बेचरदास दोशी, युनिवर्सिटी ग्रंथ निर्माण बोर्ड, अमदाबाद, 1978.
17. प्राकृत व्याकरणम् (Prakrit Grammar) : आचार्य हेमचन्द्र, संपादक : पी. एल वैद्य, 1928

18. मुत्तनिपातो. पी. वी. बापट, पूना 1924.
19. स्यगड गसुत्तं. मुनि जम्बुविजय, म. जे. वि., बम्बई, 1978
20. सूत्रकृतांगसूत्र, भाग-1, मुनि पुण्यविजयजी, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, 1975
21. Comparative Grammar of the Prakrit Languages by R. Pischel, Motilal Banarasidas, Varanasi, 1965
22. Historical Grammar of Inscriptional Prakrits, M. A Mehendale, Poona, 1948
23. Ludwig Alsdorf : Kleine Schriften, Wiesbaden, 1974
24. Pali Literature and Language, W Geiger (B. Ghosh, English), 1968
25. The Prakrit Grammarians, Nitti Dolchi, 1972

### हमारे प्रकाशन

1. भारतीय भाषाओं के विकास और साहित्य की समृद्धि में श्रमणों का महत्त्वपूर्ण योगदान, के. आर. चन्द्र, 1979
2. प्राकृत-हिन्दी कोश, के. आर. चन्द्र, 1987 रु. 120-00  
(पाइयसदमहण्णवो की किञ्चित् परिवर्तित आवृत्ति)
3. English Translation of Kouhala's Lilāvai-Kahā, Prof. S.T. Nimkar, 1988 रु. 30-00
4. नम्मयासुंदरी कथा (श्री महेन्द्रसूक्त), हिन्दी अनुवाद सहित, के. आर. चन्द्र, 1989 रु. 40-00
5. आरामशोभा रासमाला (गुजराती), प्रो. जयंत कोठारी, 1989 रु. 90-00
6. जैनगम स्वाध्याय, पं. दलसुखभाई माळवजिया (गुजराती), 1991 रु. 100-00

[ग्रन्थ खरीदने के लिए संपर्क करें—

मुख्य वितरक : पार्श्व प्रकाशन, निशा पोल नाका,  
जवंरी वाड, रिलीफ रोड, अहमदाबाद, 380001 ]

## In Search of the Original Ardhamāgadhi

The collection of Prof. K. R. Chandra's studies "प्राचीन अर्ध-मागधी की खोज में" aims at ascertaining the linguistic characteristics of the original language of the Śvetāmbara Jain Canonical texts or what is usually referred to as the Ardhamāgadhi Canon. Chandra points out, through a detailed comparison of the canonical texts as edited by various modern scholars, the disagreement and diversity of the criteria of selecting the various readings. He has made quite obvious the consequent linguistic heterogeneity that creates problems for making out the real character of the language of the Ardhamāgadhi Canon. Secondly, he has sought to point out with the help of the Eastern Aśokan and Pali language that inspite of the considerably changed character (under the impact of the standard Mahārāṣṭrī Prakrit) of the language of the Canonical texts during the long period of transmission, certain old readings have been preserved that reveal some of the phonological, morphological and lexical traits of the original Ardhamāgadhi, and hence in setting up the text they should be preferred over other modernized readings. In support of his contention Chandra has presented some typical case-studies. He has also examined the treatment accorded to Ardhamāgadhi by Hemacandra in the Prakrit section of the latter's grammar. Thus these studies put forth a strong and convincing plea for restoring the original character of the language of the Ardhamāgadhi canonical texts (some sections and portions of which probably go back to the pre-Aśokan period) so far as it is possible on the basis of all the available relevant textual data.

H. C. Bhayani

Retd. Prof. of Linguistics  
Gujarat University